प्रस्तावना ।

श्री ईसामसीह के जन्मकाल से लगभग १०[illegible] वर्ष पूर्व रूम देश की राजधानी में सिसरो नामी एक बहुत बड़े विद्वान हो गये हैं। एक साधा रण श्रेणी के गृहस्थ के घर में जन्म लेने पर भी इन्हों ने अपनी निज की योग्यता के कारण अपने देश के राज्यशासन में कई उत्तमोत्तम उच्चाधि कार प्राप्त किये और स्वदेश और स्वजाति की उत्तम सेवा करके सांसा रिक सुकीर्ति पूर्वक अपने वंश को पूर्ण समुन्नत किया था। सिसरो केवल पण्डित ही नहीं, किन्तु अपने समय में वह एक अद्वितीय प्रभावोत्पादक वक्ता भी थे। राजनीति में पूर्ण प्रवीण और दक्ष हो कर सिसरो सदाचा और सुशील में भी अग्रगण्य माने जाते थे। अपनी देशभाषा अर्थात लेटिन भाषा में सिसरो कई एक उत्तम ग्रन्थ छोड़ गये हैं, कि जिन की उत्कृष्टता की बानगी के लिये यह छोटा सा निबन्ध आशा है कि पूर्णरू से प्रचुर होगा।

कुछ दिवस पूर्व मुझ को सिसरो रचित लीलियस नामक निबन्ध अंग्रेजी भाषानुवाद पढ़ने का सौभाग्य हुआ था। इस निबन्ध को मैं मित्रता के विषय में बहुत उत्तम और विलक्षण पाया। इस के पढ़ने मेरे हृदय पर एक प्रकार का ऐसा अपूर्व प्रभाव उत्पन्न हुआ कि लिखने में नहीं आ सकता। हिन्दी रसिकों को इस अमूल्य रत्न के ला से वञ्चित देख कर मैंने इस का यह भाषान्तर प्रगट किया है। अक्ष प्रत्यक्षर भाषान्तर के स्थान में स्वतंत्र अनुवाद को विशेष सुकर औ ग्राह्य समझ कर इस अनुवाद में ग्रन्थकार की भाषा का ज्यों का त

इस के चिरस्थायी रखने का उपाय निरन्तर करते रहना अत्यावश्यक है। इस प्रबन्ध में मित्रता सम्बन्धी कई उत्तमोत्तम और अनुकरणयोग्य बातें विद्यमान हैं। यही इस के प्रगट करने का प्राथमिक हेतु है।

कितने ही प्राचीन और नवीन मित्रों से अनुगृहीत होने के कारण मैं इस अवसर पर अपने समस्त प्रिय मित्रों की सेवा में यह निबन्ध भेट करके सविनय और सादर यह विश्वास किये बिना कदापि नहीं रह सकता कि कृपा करके वे इस को भलीभांति पढ़ें और इस के आशय पर पूर्ण विचार करके दोनों ओर के सुखादि की हृद्धि के अर्थ अपनी सच्ची और निष्कपट मित्रता को दृढ़ और अविचल करने का यथोचित प्रयत्न करके मेरे परिश्रम को अवश्य सार्थ करेंगे।

निबन्ध के सुबर्ण और सुगम करने के अर्थ निबन्धान्तर्गत व्यक्तियों का थोड़ा सा वृत्तान्त यहां पर दिया जाता है।

नीलाम्बर विज्ञानी (Laelius, the sage)—रूमदेश का एक प्रसिद्ध विद्वान् और सदाचारयुक्त पुरुष। इस का जीवन काल सन् ईस्वी के प्रारम्भ से लगभग १२५ वर्ष पूर्व का है। नीलाम्बर और शिवप्रसाद में घनिष्ट मित्रता थी।

शिवप्रसाद आफ्रीकी (Scipio, the Africanus, Younger)—यह भी नीलाम्बर का समकालीन रूम का प्रसिद्ध वीर राजनीतिज्ञ था। ज्ञात रहे कि रूम में इस नाम के दो प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं। इस निबन्ध में जिस का वर्णन है वह दूसरा अर्थात् कनिष्ठ शिवप्रसाद था। ज्येष्ठ शिवप्रसाद इस के दादा थे। अफ्रिका नाम महाद्वीप को विजय करने के कारण इस को आफ्रीकी (the Africanus) की उपाधि दी गई थी। नीलाम्बर के साथ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है शिवप्रसाद की दृढ़ मैत्री थी।

मुरलीधर और प्रफुल्लचन्द्र—ये दोनों युवक नीलाम्बर विज्ञानी के जामाता थे। इन के प्रश्नादि से ये दोनों ही विद्वान और सुशील प्रमाणित होते हैं।

यदि पाठकों को इस पुस्तिका के पढ़ने से मैत्री के व्यवहार में कुछ प्राप्त होगी तो अनुवादक अपने परिश्रम को सफल

१८८८—आबू। पुरोहित गोपीनाथ शर्म्मा।

अपने मित्र के वियोग को किस प्रकार से सहन करते हैं। आप को "विज्ञानी" की उपाधि से अलंकृत करने में सर्वजन सम्मत हैं । सांसारिक बुद्धिमत्ता और राजनैतिक कौशल में प्रवीण होने के कारण ही से नहीं; किन्तु यह पदवी आप के लोकोत्तर आत्मिक विज्ञान की वृद्धि का परिणाम है। इस आत्मिक ज्ञान से मेरा प्रयोजन उस परमज्ञान से है कि जिस के कारण आप धर्म्म को मनुष्यमात्र की समस्त विपत्तियों के दूर करने में समर्थ बतलाते हैं और सुख को केवल अपनी निजात्मा पर ही निर्भर मानते हैं। सर्वसाधारण का ऐसा विश्वास होने पर मुझ से प्रायः यह प्रश्न किया जाता है (और मुझे विश्वास है कि श्रीयुत मुरलीधर से भी लोक बहुधा यही पूछा करते होंगे) कि देखें इस आधुनिक वियोग को नीलाम्बर विज्ञानी किस प्रकार से सहते हैं । इस प्रश्न के स्पष्टरूप से उठने का विशेष कारण यह हुवा है कि वीरेन्द्र पुष्पवाटिका की सभा में जिस में आप सदैव उपस्थित हुवा करते थे अब की बार नहीं पधारे।

मुरली–हे महाशय ! श्री युत प्रफुल्लचन्द्र, जिस प्रश्न का वर्णन करते हैं वह मेरे परिचित

श्रीगणेशाय नमः।

मित्रता

अर्थात्

विद्वद्वर्य श्रीमान् सिसरो विरचित लीलियस नामक निबन्ध

का स्वतन्त्र भाषानुवाद।

नीलाम्बर विज्ञानी और शिवप्रसाद आफ़ीकी में परस्पर सच्ची और दृढ़ मित्रता थी। शिवप्रसाद की मृत्यु के कुछ ही काल पीछे प्रफुल्ल और मुरली अपने श्वसुर नीलाम्बर के निकट गये। इन श्वसुर जामाताओं में मित्रता के विषय में जो संलाप हुआ था उस का सारांश इस प्रकार है।—

प्रफुल्ल (नीलाम्बर से) —इस बात में मैं आप के पूर्ण सहमत हूं कि शिवप्रसाद आफ़ीकी सौजन्यादि प्रशस्त गुणों में अद्वितीय थे। परन्तु कृपा करके मुझे यह विज्ञप्ति करने दें कि इस अवसर पर सर्वसाधारण की दृष्टि विशेषतः आप ही की ओर झुकी हुई है कि देखें नीलाम्बर विज्ञानी

अपने मित्र के वियोग को किस प्रकार से स
करते हैं। आप को "विज्ञानी" की उपाधि से अ
कृत करने में सर्वजन सम्मत हैं । सांसारिक बु
मत्ता और राजनैतिक कौशल में प्रवीण होने
कारण ही से नहीं; किन्तु यह पदवी आप के लोक
त्तर आत्मिक विज्ञान की वृद्धि का परिणाम है
इस आत्मिक ज्ञान से मेरा प्रयोजन उस परमज्ञा
से है कि जिस के कारण आप धर्म्म को मनुष्यमा
की समस्त विपत्तियों के दूर करने में समर्थ बतला
हैं और सुख को केवल अपनी निजात्मा पर ही निर्भ
मानते हैं। सर्वसाधारण का ऐसा विश्वास होने प
मुझ से प्रायः यह प्रश्न किया जाता है (और मुझे
विश्वास है कि श्रीयुत मुरलीधर से भी लोक
बहुधा यही पूछा करते होंगे) कि देखें इस आधु
निक वियोग को नीलाम्बर विज्ञानी किस
से सहते हैं । इस प्रश्न के स्पष्टरूप से
का विशेष कारण यह हुआ है कि वीरेन्द्र
टिका की सभा में जिस में आप सद
हुआ करते थे अब की बार नहीं

मुरली-हे महाशय !
जिस प्रश्न का वर्णन

मुझे जो दुःख है उस का एक मात्र कारण इतना सा ही है कि इस दुर्घटना से मुझे बड़ी हानि हुई है। इस बात पर पूर्ण ध्यान देने पर मेरा अथाह शोक में निमग्न होना अपने मित्र की उत्तम मित्रता का परिचय नहीं देता, किन्तु अपनी स्वार्थनिष्ठा को प्रमाणित करता है। यह सब को भली भांति विदित है कि शिवप्रसाद के जीवन दिनों का वर्ण, चाहे कैसी ही दृष्टि से देखा जाय, पूर्णरूप से सुन्दर और प्रकाशमान था। क्या तुम मुझे बतला सकते हो कि कोई भी आनन्द, जिस के प्राप्त करने की मनुष्य यथोचित रूप से आशा कर सकता है, उस ने न पाया हो? बाल्यावस्था में मनुष्यों ने उस के उत्तम गुणों से जितनी शुभ आशा की थी उस ने अपनी तरुणावस्था में, जब उस के गुणों का प्रकाश उस के देश की उत्तमोत्तम आशाओं से भी विशेष शोभा के साथ प्रगट हुआ, आशातीत रूप से प्रमाणित कर दिखाया। अपनी कुछ भी इच्छा न होने पर भी वह दो बार कंसल * (दण्डनायक) के

---

* कंसल (Consul.) प्राचीनकाल में रूमदेश में दो सर्वोपरि दण्डनायक (Magistrate) निर्वाचित किये जाते थे। उन को कंसल कहते थे।

उच्चाधिकार पर नियुक्त किया गया था और जिस में भी तुर्रा यह कि प्रथम वार तो ऐसे समय में कि जब उस की अल्पावस्था के कारण हमारे देश के नियमानुसार उस को ऐसा अधिकार दिया ही नहीं जा सकता था। शिवप्रसाद दोनों ही वार अपने कर्तव्यों में पूर्णतः कृतकार्य हुवा और अपने देश (रूम) के शत्रुओं को यथोचित रूप से परास्त करने में समर्थ हुवा। इस अवसर पर मुझे उस के स्वाभाविक उत्तम गुणों का (माता पिता में पूज्य भक्ति, भगिनी भागिनेय दौहित्रादि में उपकार दृष्टि, वन्धु वर्ग के साथ स्नेह भाव इत्यादि) विस्तार पूर्वक वर्णन करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ये सव उस के उदाहरणीय जीवन के अमूल्य रत्न स्वरूप हैं और इन को तुम तथा अन्यान्य जन भली भांति जानते हो। इसी भांति देशवासियों का उस पर कितना अविचल प्रेम था यह दिखलाने की भी मुझे यहां पर कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती; क्योंकि जिस भांति देश ने उस की उत्तरक्रियादि संपादन की हैं उस से शिवप्रसाद का अपने देश का पर्ण कण

और स्नेह का पात्र होना पूर्ण प्रमाणित हो गया है। अब बतावो कि कुछ वर्ष और अधिक जीवित रहने से उस के आनन्द और सुयश में और क्या वृद्धि हो सकती थी ?

अब यदि उस की मृत्यु के विषय में विचार किया जाय तो मृत्यु उस की ऐसी शीघ्र हुई है कि जिस से उस को किसी प्रकार का कष्ट उपस्थि होने की संभावना नहीं की जा सकती। वास्तव में इस आकस्मिक घटना का क्या कारण था सो तो अलबत्ता स्पष्ट नहीं हुवा है, परन्तु एक बात इस सम्बन्ध में निर्विवाद है कि अपने जीवन में शिव-प्रसाद ने जितने प्रकाशमान और आनन्दमय दिवसों का भोग किया था उन सब में उस की मृत्यु का दिवस सर्वोत्कृष्ट था। क्योंकि उस के मृत्युदिन की पूर्व संध्या को ही उस ने वह असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि राजसभा के विसर्जन होने पर उस महती परिषद् के सब सभासदों ने शिव-प्रसाद को उस के घर पहुंचाया था और रूम और लेशियम* के समस्त मित्रराज्यों के प्रतिनिधि भी इस अवसर पर प्रायः सब ही उपस्थित थे।

* लेशियम—देशविशेष।

यहां पर मैं तुम से यह भी कह देता हूं कि मैं आज कल के नवीन सिद्धान्तों का अनुयायी नहीं हुवा हूं। क्योंकि मैं इन आधुनिक दार्शनिकों के सिद्धान्तों के अनुसार इस बात को नहीं मानता हूं कि मृत्यु मनुष्य का सर्वथा ही अन्त कर देती है और मनुष्य की आत्मा भी उस की देह के साथ ही नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि मैं तो अपने पूर्वजों की सम्मति ही को, कि जो प्राचीन महर्षियों के सिद्धान्तों का निचोड़ है, उत्तम मानता हूं। हमारे पूर्वजों को यदि इस बात में कुछ भी सन्देह होता कि उत्तर क्रिया से प्रेतों का कुछ भी सम्बन्ध है तो मुझे विश्वास है कि मृतमनुष्यों की और्ध्वदेहिक क्रिया कर्म को वे ऐसी श्रद्धा और प्रतिष्ठा के साथ कदापि प्रचलित नहीं करते। इस के अतिरिक्त इन विचारों से हमारी जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह यूनानी नैयायिकों के सिद्धान्तों से भी पूर्ण पुष्ट होती है। इन सब बातों के उपरान्त मेरी श्रद्धा अविचल करनेवाली सम्मति उस महापुरुष [illegible] है कि जिस को देवीवाणी ने मनुष्यमात्र में [illegible] *विद्वान कहा है। इस अनुपम तत्वज्ञानी

* सुकरात (Socrates) अपने समय में म[illegible]अनुसार सब में [illegible]द्विमान् मानागया था और अद्यावधि अब भी ऐसाही माना जाता है।

सुकरात) ने अपना यह अविचल सिद्धांत निश्चय किया है कि मनुष्य की आत्मा परमात्मा का अंश और अजर अमर है, कि मृत्यु से इस को अपने स्वर्गीयभवन में गमन करने का मार्ग प्राप्त होता है, और यह कि जिन महानुभावों ने धार्म्मिक मार्गों में बहुत उन्नति की है उन की आत्मा विशेष सुगमता और शीघ्रता के साथ वहां प्रवेश कर जाती हैं।

अब यदि यह बात सत्य है कि सत्पुरुषों की आत्मा उन के शारीरिक कारागार से मुक्त होने पर उन की धार्म्मिक उन्नति के अनुसार न्यूनाधिक सुगमता से स्वर्ग में प्रवेश कर जाती हैं तो बतावो कि शिवप्रसाद की आत्मा को छोड़ कर हम कौन से दूसरे मनुष्य की आत्मा के वहां पर अति शीघ्र पहुंचने की संभावना कर सकते हैं? इसलिए ऐसी घटना के लिए पश्चात्ताप करना मेरी दृष्टि में तो मित्रता की अपेक्षा ईर्ष्याही प्रगट करना है। इस के उपरान्त यदि यह विपरीत सिद्धान्त ही सत्य हो कि देह और आत्मा दोनों एक साथ नष्ट हो जाते हों और देह के विनष्ट होने के अनन्तर किसी प्रकार की चेतना अवशिष्ट

नहीं रहती हो, तो भी हमारे प्रशस्त मित्रके सम्ब
में मृत्यु को हम विपत्ति के नाम से तो कदापि न
कह सकते। क्योंकि यदि उस में अब कुछ
चैतन्य नहीं रहा है तो वह "अपने सम्बन्ध में
ऐसी दशा में स्थित है कि मानो उस ने जन्म ह
नहीं लिया था। "अपने सम्बन्ध में" इस लि
कहागया है कि मृत्यु के अनन्तर की अवस्था
चाहे कैसी ही क्यों न हो उस के मित्रगण और उस का
देश तो अपनी स्थिति के पर्य्यन्त शिवप्रसाद के
इतने दिवसों तक जीवित रहने के लिए सदैव
आनन्द मनाते रहेंगे।

अतएव चाहे कैसीही दृष्टि से क्यों न देखी जाय
यह घटना जहां तक इस का सम्बन्ध मेरे मृत
प्रिय मित्र से है मेरी दृष्टि में सर्वथा परिपूर्ण आनन्द-
प्रद है। परन्तु अपने निज के लिए शिवप्रसाद की
मृत्यु निःसन्देह बहुत दुःख का कारण है। चूंकि मेरा
जन्म शिवप्रसाद से प्रथम हुवा था, इस लिए
सृष्टि-क्रमानुसार मुझ को उस से पूर्व ही इस संसार
से प्रयाण करना उचित था। परन्तु यह सौभाग्य
मेरे प्रारब्ध में न था। तथापि उस की मित्रता पर
करने से मुझे यह संतोष होता है कि

मुझे अपने जीवन का बहुत सा भाग शिवप्रसाद की मित्रता में बिताने का सौभाग्य मिला है। हम प्रायः एक साथ एक ही घर में रहे, हम दोनों ही सैनिक विभाग में भरती हुए और दोनों ही ने उच्च सैनिक अधिकार प्राप्त किये। अधिक क्या, हमारे समस्त सामान्य और विशेष कार्य्य भी एक ही प्रकार के सुविचारों से संघटित हुए हैं। मित्रता का सारांश संक्षेप रूप से एक ही वाक्य में कहा जावे तो यह समझ लो कि हम दोनों के विचार, संकल्प विकल्प, इच्छा और पठन पाठन पूर्णरूप से एक ही थे। इसी लिए सर्वसाधारण की उस सम्मति के, कि जो प्रफुल्ल के कथनानुसार सब मनुष्य मेरे सम्बन्ध में रखते हैं, श्रवण करने से मुझे इतना आनन्द नहीं होता जितना मुझे उस दृढ़ विश्वास से होता है कि हम दोनों मित्रों की मित्रता जगत में अमर रहेगी। मेरी इस बलवती आशा का यह हेतु है कि पूर्वकाल के इतिहासों में ऐसी सच्ची मित्रता के उदाहरण तीन या चार से अधिक नहीं पाये जाते। और मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्यत में शिवप्रसाद और नीलाम्बर के नाम भी इस प्रशस्त और प्रसिद्ध गणना में संयुक्त किए जावेंगे।

प्रफुल्ल–हे महाशय ! आप की आशा निःसन्देह सफल होगी। अब आप कृपा करके मित्रता के सम्बन्ध में आप की जो सम्मति हो वर्णन करें और यह भी कहें कि वास्तविक मित्रता किस को कहना चाहिए ? मित्रता के धर्मों की सीमा कहां तक है ? और सन्मैत्री के आचार व्यवहार क्या है?

मुरली–मैं भी आप से यही विज्ञप्ति करने को था कि इतने में श्रीयुत प्रफुल्लचन्द्र बोल ही उठे। कृपा करके इस प्रार्थना को स्वीकार करके हम दोनों को अनुग्रहीत करें।

नीलाम्बर–यदि मैं इस कार्य के योग्य होता तो तुम्हारी प्रार्थना को अवश्य सानन्द स्वीकार करता; परन्तु मैं ऐसे विषय में अपनी पूर्ण योग्यता न होने से भलीभांति परिचित हूं।

मैं तुम से केवल यह बात कथन करना चाहता हूं कि मित्रता इस लोक में सब से बहुमूल्य सम्पत्ति है; क्योंकि यह सम्पत्ति ऐसी अद्भुत है कि अन्यान्य सम्पत्तियों के प्रतिकूल यह सम्पत्ति मनुष्य की सब प्रकार की धार्म्मिक प्रकृति और उन्नत और अवनत अवस्था के अनुकूल होती है। परन्तु इस के साथ ही एक यह अविचल सिद्धान्त भी मैं

तुम से वर्णन करना चाहता हूं कि "सच्ची मित्रता केवल उन ही सत्पुरुषों के बीच में रह सकती है कि जिन के प्रत्येक कार्य का मूल पूर्ण धर्म और प्रतिष्ठा में समारूढ हो "

धार्म्मिक और प्रतिष्ठित सत्पुरुषों से मेरा प्रयोजन केवल उन ही सज्जनों से, है जो अपने इन्द्रियविषयों को परिमित सीमा में रख सकते हैं और जो अपने जीवन के समस्त कार्यों में एक ही प्रकार के प्रशस्त, प्रतिष्ठित, न्यायसङ्गत, और परोपकार युक्त विचार का अवलम्बन करते हैं। मेरे निकट ऐसे मनुष्य साधु नाम से अलंकृत किये जाने के योग्य हैं, क्योंकि मनुष्य की अस्थिर दशा को देखते उन का यह सदाचार प्राकृतिक उत्तम नियमों के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होता है।

प्राकृतिक नियमों का विचार करते हुए हम को विदित होता है कि सब मनुष्य परस्पर में एक प्रकार के सामाजिक बन्धन से जकड़े हुए हैं कि जिस की दृढता का न्यूनाधिक होना उन की परस्पर की दूरस्थ और निकटस्थ अवस्था पर निर्भर है। हम देखते हैं कि परदेशियों की अपेक्षा एक देश और एक राज्य के निवासियों में तथा विगो-

त्रियों की अपेक्षा सगोत्रियों में यह बन्धन विशेष दृढ़तर पाया जाता है। गोत्रज सम्बन्ध में तो यह शृंखला अत्यन्त ही दृढ़ होती है। यहां पर एक बान्धव का दूसरे के साथ स्वाभाविक स्नेह होता है परन्तु यह स्नेह प्रायः विशेष चिरस्थायी नहीं होता। इस स्वाभाविक स्नेहबन्धन और निजेच्छानुसार की मित्रता के बन्धन का भेद इस प्रकार है कि पूर्व बन्धन तो परस्पर की मानसिक इच्छाओं का निरादर कर के जैसा आदि में है वैसा ही सदैव बना रहता है, परन्तु उत्तर बन्धन में जो मित्रभाव उत्पन्न होता है वह मित्रों की मानसिक इच्छाओं पर निर्भर रहता है और जब उन में किसी प्रकार की अनबन हुई तो फिर उन में मित्रता की स्थिति कदापि नहीं रहती। मित्रता के बन्धन को सब से अधिक दृढ़ करनेवाली बात यह है कि प्राकृतिक सामाजिक बन्धन की भांति मित्रता के सम्बन्ध को बहुत से मनुष्यों पर निर्भर न होकर केवल दो ही तीन मनुष्य पर अपना शक्तिभर प्रभाव जमाना पड़ता है।

"परस्पर की पूर्ण प्रतिष्ठा और प्रीति से संयुक्त समस्त प्रकार के धर्म्म और देश सम्बन्धी विषयों में सम्पूर्ण रूप से एक मत होने का नाम मित्रता

" । इस छोटी सी बात (मैत्री) से वे सर्व्व-
ष्ठ और मनोवाञ्छित लाभ उत्पन्न होते हैं कि
ो देव की दी हुई समस्त सम्पत्तियों में सर्वोत्तम
। मुझे यह भी ज्ञात है कि इस विषय में अन्यान्य
न मुझ से सहमत नहीं होंगे ; क्योंकि आरोग्यता
और लक्ष्मी, प्रतिष्ठा और राज्याधिकार के प्रशंसा
करनेवाले और इन को मनुष्य का सर्वोत्तम सुख
ाननेवाले भी बहुत मनुष्य हैं। इस ही प्रकार बहुत
 मनुष्य ऐसे भी हैं कि जिन के विचार में विषयादि
का उपभोग मात्र ही मनुष्य का सर्वोत्तम सुख है।
रन्तु यह प्रत्यक्ष है कि इन दोनों प्रकार के मनुष्यों
में से पहले तो अपने सुख का आधार उन अत्यन्त
अस्थिर लाभों पर मान रहे हैं कि जिन की स्थिति
हमारी योग्यता पर स्थिर न हो कर केवल भाग्य
(क़िस्मत) की चंचलता पर निर्भर है, और दूसरों
के सिद्धान्तानुसार हमारा सुख उन नीच श्रेणी के
भोग विलासों से भिन्न नहीं है कि जो विवेकविहीन
पशुओं का प्राधान्य आनन्द माना गया है। इस
लिए जो मनुष्य मानवसुख को धर्म के ज्ञान और
आचरण के आश्रित समझते हैं उन ही का सिद्धान्त
सर्वथा सत्य और प्रशस्त है। इस के साथ ही यह

भी स्मरण रखना उचित है कि मित्रता का जन्म-दाता और पोषणकर्त्ता भी धर्म ही है।

जब साधु पुरुषों के बीच में मित्रता होती है तो इस से अकथनीय लाभ उत्पन्न होते हैं। किसी महात्मा का कथन है:—"मित्र के बिना, जिस की अनुग्रह और विश्वस्तता पर मनुष्य सदैव निश्चिन्त रह सकता है, मानवजीवन सर्वथा निरानन्द और निरपेक्षित है"। क्या अपने दिल के अत्यन्त गोप्य रहस्यों को दूसरे को पूर्ण निश्चिन्तता के साथ प्रगट कर देने (कि मानों वे अब तक उसी के हृदयान्तर्गत स्थित हैं) से भी कोई विशेष आनन्द हो सकता है? क्या ऐश्वर्य का स्वादु वैसाही सुस्वादु बना रह सकता है जब कि ऐश्वर्यशाली की विभूति के आनन्दों को कई भागों में विभक्त कर के उन का भोगने-वाला दूसरा कोई मनुष्य भी विद्यमान न हो? दुःख को बटानेवाले किसी स्नेही के वर्त्तमान न होने पर विपत्ति का भार सहन करना कितना कठिन हो जायगा?

सारांश यह है कि मित्रता के स्नेह कार्यों के विस्तार की सीमा तो अनन्त है; परन्तु मनुष्य के वाञ्छित अन्यान्य पदार्थों का लाभ बिलकुलही परिमित

है और उस सीमा के अनन्तर वह सर्वथा निष्प्रयोजन है। जैसे धन का सम्पादन केवल उन कार्यों के लिए ही किया जाता है कि जिन में वह विशेष उपयुक्त हो; इन्द्रिय विषयों का भोग उन के द्वारा उत्पन्न होनेवाले सुखों के लिए ही है; और निरोगता के उपाय मनुष्य इसलिए करता है कि शरीर सम्बन्धी रोगों से मुक्त रहकर व्याधि के कष्टों से छुटकारा पा सके। इन सब के प्रतिकूल मित्रता के लाभ असंख्य हैं। इस का व्यवहार अनेकानेक कार्यों में किया जा सकता है। मित्रता मनुष्य की सब दशाओं में लाभदायक होती है। ऐसा कोई भी समय नहीं हो सकता कि जो मित्रता के अनुकूल न हो। संक्षिप्त से मित्रता एक ऐसी अपूर्व वस्तु है कि जो जल और अग्नि की अपेक्षा भी मनुष्य को अधिकतर लाभ पहुंचाती है।

इस स्थान पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि मैं जिस मित्रता का वर्णन कर रहा हूं वह साधारण मित्रता नहीं है, जो प्रायः संसार में सामान्य रूप से देखी जाती है, परन्तु वह वास्तविक और संपूर्ण मित्रता है कि जिस के उदाहरण संसार में बहुत ही विरले हैं और इसी लिए जगत में इस

का स्मरण बहुत्व के कारण से नहीं किन्तु अ
विरलता के कारण से दृढ़तर है। केवल इसी प्रक
की मित्रता में ऐश्वर्य के आनन्दों की वृद्धि औ
विपत्ति के दुःखों की न्यूनता करने की शक्ति क
जा सकती है, क्योंकि यह दोनों ही समय में उद
रता के साथ संयोग देती है। सच पूछो तो इस
अपूर्व बन्धन का अत्यन्त प्रशस्त उपयोग विपत्ति
के दिनों में ही हो सकता है, कि जब वह विपद्
ग्रस्त मित्र के शोकातुर चित्त को प्रफुल्लित करती
है और भविष्यत में उत्तम दशा की आशा दिला
कर उस को अत्यन्त दीन और हताश होने से
बचाती है। जिस किसी को सच्चे मित्र के प्राप्त
करने का सौभाग्य मिला है वह उस में अपनी
आत्मा का ठीक ठीक प्रतिबिम्ब देखता है। इस
पारस्परिक एकचित्तता के कारण वे दोनों ऐसे एक
हो जाते हैं कि किसी एक का लाभ तत्काल ही
दोनों का लाभ प्रतीत होता है। ऐसे मित्र एक
दूसरे के बल से बलवान धन से धनवान और
राज्याधिकार से अधिकारयुक्त होते हैं। वे किसी
दशा में, भी भिन्न दो मनुष्य नहीं समझे जा सकते,
और जहां कहीं एक की विद्यमानता होती है तो।

वास्तव में दूसरे को भी वहां उपस्थित ही समझना चाहिये। मेरा सिद्धान्त तो यहां तक है कि एक की मृत्यु के अनन्तर भी जब तक दूसरा जीवित रहे दोनों ही को विद्यमान समझना चाहिये; क्योंकि जब मृत मनुष्य का स्मरण उस के जीवित मित्र के अन्तःकरण में परिपूर्ण प्रतिष्ठा और स्नेह के साथ ऐसा सुरक्षित है कि जिस से पहिला (मरनेवाला मित्र) अपनी मृत्यु को सुख समझने लगता है और दूसरे का जीवन संसार में प्रतिष्ठित गिना जाता है, तो मृत मनुष्य एक प्रकार से जीवित ही समझा जा सकता है।

यदि यह उपकारक विचार, कि जिस से दो मनुष्य स्नेहरूपी बन्धन से संयुक्त होते हैं, मानव हृदय में से बिलकुल निर्मूल कर दिया जावे तो विशेष्य कुटुम्बों और सामान्य सभाओं की स्थिति सर्वथा असंभव हो जायगी, बल्कि यह पृथ्वी भी अजोत पड़ी रहेगी और सर्वत्र अकाल का विकराल रूप प्रगट हो जायगा। यदि इस कथन के समर्थन की आवश्यकता हो तो फूट और कलह के अनिष्ट परिणामों का चिन्तमन प्रचुर होगा, क्योंकि कौन सा कुटुम्ब अथवा कौन सा राज्य ऐसी पुष्ट नींव पर

स्थापित किया गया है कि जो उस के सभ्यों के पारस्परिक विसम्वाद और द्वेष से नष्ट न हो सके। पारस्परिक मित्रभाव के अमूल्य लाभों का यही काफ़ी दृष्टान्त है।

यहां तक मैंने मित्रता के सम्बन्ध में जो अपने साधारण विचार थे तुम को वर्णन किये हैं। यदि इस विषय में तुम्हारी इच्छा कुछ अधिक जानने की हो तो विद्वानों से पूछ सकते हो।

प्रफुल्लचन्द्र--हम तो आप ही से सब कुछ श्रवण करने की इच्छा रखते हैं; आप को छोड़ कर हम दूसरे कौन से विद्वान के निकट जांयगे।

नीलाम्बर–तुम्हारे ऐसे आग्रह से मैं लाचार हूं। सच तो यह है कि तुम्हारे समान गुणवान और योग्य प्रिय जामाताओं के मनोरथ के प्रतिकूल करना सर्वथा अयुक्त है इसलिए तुम्हारी इच्छानुसार इस विषय में मेरे जो जो विचार हैं वे मैं तुम से और प्रगट करता हूं।

मित्रता की उत्पत्ति क्या मनुष्य की इच्छाओं और अशक्तियों पर ही निर्भर है, कि एक मनुष्य दूसरे से मित्रता कर के पारस्परिक उपकारों से वे लाभ प्राप्त कर सके कि जो वह अकेला रह कर

नहीं कर सकता था ? अथवा मित्रता का बन्धन क्या किसी प्राकृतिक उदार नियम से सम्बन्ध रखता है कि जिस के द्वारा एक मनुष्य का दिल दूसरे के साथ अधिकतर उदार और निःस्वार्थभाव से जा जुड़ता है ? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर देने के लिए, यह जानना भी आवश्यक है कि मित्रता के बन्धन का प्रधान और वास्तविक हेतु स्नेह है कभी कभी यह स्नेह वास्तविक न हो कर कृत्रिम भी हुवा करता है; परन्तु यह किसी दशा में भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि मित्रता का भवन केवल स्वार्थ की बुनियाद पर ही स्थित है । सच्ची मित्रता में एक प्रकार की ऐसी स्वाभाविक सत्यता है कि जो कृत्रिम और बनावटी स्नेह में कदापि नहीं पाई जासकती। मेरा तो इसी लिए ऐसाही विश्वास है कि मित्रता की उत्पत्ति मनुष्य की दरिद्रता पर न हो कर किसी हार्दिक और विशेष प्रकार के स्वाभाविक विचार पर निर्भर है कि जिस के द्वारा एक से मनवाले मनुष्य स्वयमेव परस्पर शृंखलित हो जाते हैं, किन्तु इस बन्धन का वास्तव में मित्रता के लाभों के विचार से कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

इस प्राकृतिक सम्बन्ध की अतुल शक्ति वास्तव में

पशुओं में भी देखी जाती है, कि विशेप समय पर माता और उस के सन्तान में एक प्रकार का अत्यन्त दृढ प्रेम विदित होता है परन्तु स्नेह के अत्यन्त प्रबल परिणाम विशेषतः मानव जाति में ही प्रगट होते हैं। प्रथम तो उस प्रबल और गाढ़ सम्बन्ध को देखिये कि जो माता पिता और सन्तान के बीच में आविर्भूत होता है। दूसरे किसी ऐसे मनुष्य को जिस के आचरण और स्वभाव हमारे समान ही हों, अथवा किसी ऐसे मनुष्य को, जिस का अन्तः करण यथार्थ ईमानदारी और नेकी से परिपूर्ण हो, देखते ही हमारा मन उस की ओर आकर्षित हो जाता है। सच तो यह है कि नेकी के समान कोई पदार्थ भी सुन्दर नहीं होता, और नेकी के समान मनुष्य के अन्तःकरण पर प्रबल प्रभाव डालनेवाला भी दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। धर्म का प्रभाव यहां तक प्रत्यक्ष है कि जिन मनुष्यों का नाम हम को केवल इतिहासों से ही ज्ञात है और जिन को हुये वास्तव में कई वर्प व्यतीत हो चुके हैं उन के धार्म्मिक गुणों से भी हम ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उन के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होने लगते हैं।

अब, यदि धर्म की मोहिनी शक्ति ऐसी प्रबल है कि इस के कारण से हमारा स्नेह उन मनुष्यों पर भी हो जाता है कि जिन को हमने कभी देखा तक नहीं; अथवा इस के कारण हम अपने शत्रु तक की प्रशंसा करने के लिए भी वाध्य हो जाते हैं; तो फिर जिन के साथ हमारा सहवास हो उन के ऊपर हमारा अविचल प्रेम अधिकतर प्रबलता के साथ प्रगट हो, तो इस में क्या आश्चर्य है? यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रथम समागम का स्नेह निकट तर वन्धन और वहुधा संमिलन से और भी दृढतर हो जाता है। ऐसे उदार वन्धन के लिए ऐसा विचार करना•कि इस की उत्पत्ति केवल मानव दैन्य पर ही है अर्थात् एक मनुष्य दूसरे से मित्रता केवल इसीलिए करता है कि वह उस से कुछ लाभ उठावे और अपनी अपूर्णता को उस की सहायता से पूर्ण करे, मित्रता को अत्यन्तही तुच्छ और घृणित समझना है। इस के अतिरिक्त यदि यही सत्य हो तो जो मनुष्य अपने में अधिक अवगुण और अभाव देखते हैं वेही मनुष्य मित्रता जोड़ने मे अधिकतर अगुवे होंगे। परन्तु यह वात कहीं नहीं देखी जाती। किन्तु इस के प्रतिकूल यह

अनुभव सिद्ध है कि जो मनुष्य अपना सुख अपने ही अन्तर्गत देखता है और अपने निज के गुणों पर ही अपने सुख को दृढतर समझता है, वही मनुष्य दूसरों के साथ स्नेह का वर्ताव करने को भी अधिकतर प्रवृत्त होता है और वही मनुष्य वास्तव में अधिकतर उत्तममित्र भी सिद्ध होता है।

सच तो यह है कि जिस प्रकार परोपकार को अपने उत्तम कार्यों के व्यापार से घृणा है और जिस प्रकार उदारचरित मनुष्य प्रत्युपकार की प्रत्याशा से दूसरों पर उपकार न कर के केवल अपने प्राकृतिक उपकार स्वभाव के आचरण करने में आनन्द मान करही दूसरों को लाभ पहुंचाते हैं; इसी प्रकार मुझे विश्वास है कि हम परस्पर के लाभों के लिए मित्रता नहीं जोड़ते, किन्तु मित्रभाव के वर्ताव से जो एक प्रकार का निःस्वार्थ सुख प्रगट होता है उसी के लिए जोड़ते हैं।

मुझे पूरा निश्चय है कि मनुष्य का यह प्राकृतिक स्वभाव है कि वह जिस किसी में धर्म्म की सौन्दर्यमूर्ति देखता है उस का चित्त उसी की ओर स्वयमेव मुग्ध होकर आकर्षित हो जाता है। इसी लिए जिस मनुष्य का हृदय किसी विशेष प्रकार

धर्म की ओर झुका रहता है वह उपर्युक्त धार्मिक
ुप्य से विशेष समागम और सम्बन्ध रखने का
भिलाषी होता है। क्योंकि साधु धार्मिक जज्नों
सङ्गति में एक प्रकार का विशेष आनन्द है जो
त्रता ऐसी उचित और प्राकृतिक बुनियाद पर
थत है वह केवल अनन्त लाभों ही का कारण
हीं होती किन्तु उस मित्रता की अपेक्षा, जिस की
पत्ति मानव अशक्ति और इच्छाओं से होती है,
धिकतर दृढ़ और उत्तम आधार पर स्थिर है।
योंकि यदि इस बन्धन का जोड़नेवाला एकमात्र
ार्थ ही हो, तो यह भी तब तकही रह सकता
कि जब तक स्वार्थ, कि जो बहुत चञ्चल और
स्थिर है, सिद्ध होता रहे। परन्तु वास्तविक मित्रता
ाकृतिक दृढ़ नियमों से उत्पन्न होने के कारण
पने जन्मस्थान (प्रकृति) के समानही अभेद्य
ौर सर्वदा एकवर्ण होकर सदैव चिरस्थायी बनी
हती है। मित्रता की उत्पत्ति के लिए इतनी बात
ी काफी है। परन्तु तुम को इस में कुछ शङ्का हो
ो भलेही प्रश्न कर सकते हो।

प्रफुल्लचन्द्र–नहीं, हम को कुछ शंका नहीं।
रन्तु हम चाहते हैं कि आप इस विषय में कुछ
ौर वर्णन करें।

नीलाम्बर—अब मैं इस विषय में शिवप्रसा
के और मेरे जो संलाप पहिले हो चुके हैं उन
सिद्धान्त तुम को सुनाता हूं । शिवप्रसाद प्रा
कहा करते थे कि मित्रता को मृत्यु पर्यन्त अविच्छि
और अविकल बनाये रखना सब से अधिकत
कठिन है; क्योंकि दोनों ओर के स्वार्थों के हस्त
क्षेप और कई सामाजिक तथा राजनैतिक विषय
की अनेकमति के अतिरिक्त मनुष्यों की वृद्धावस्था
आपदा और उन के शारीरिक और मानसिक रो
भी मित्रों के स्वभाव में बहुत हेर फेर करके उन
की मित्रता में बाधा डालते हैं। मित्रता के प्रादुर्भाव
के समय से प्रारंभ करके जो जो हेर फेर इस में
होते रहते हैं वेही इस के अस्थैर्य्य के प्रत्यक्ष उदा
हरण हैं । शिवप्रसाद कहा करते थे कि यही कारण
है कि जो घनिष्ठ मैत्री बाल्यावस्था में की जाती है
वह प्रायः तारुण्य के प्राप्त होते ही छूट जाती है। और
यदि यह किसी प्रकार तरुणावस्था तक बनी भी
रही तो भी किसी न किसी वैवाहिक विवाद या
प्रौढावस्था के अन्यान्य कारणों से फिर कभी इस
का शिथिल होना असंभव नहीं है । यदि इन सामान्य
भय हेतुओं को सौभाग्यवश पार भी कर सके, तो

इस का प्रणान्त करने के लिए तो एकही राज्याधिकार के लिए उन ही मित्रों के पदाभिलाषी बनने के समान और भी कई भयानक कारण आ उपस्थित होंगे। क्योंकि जैसे सर्वसाधारण जन की द्रव्योपार्जन के लिए अत्यन्त प्रबल इच्छा रहती है वैसेही उदार मनुष्यों की तृष्णा यश सम्पादन करने के हेतु अपरिमित होती है। इनही कारणों को मित्रता के प्रबल शत्रु जानना चाहिये। इन ही के कारण बड़े बड़े हार्दिक मित्र अन्त में एक दूसरे के हार्दिक शत्रु होते देखे गये हैं।

शिवप्रसाद ने यह भी कहा था कि अनेक दशाओं में मित्र की (अपने मित्र से) अनुचित प्रार्थनायें भी मित्रता की घोरशत्रु होती देखी गयी हैं। यथा, किसी मनुष्य का अपने मित्र से सामाजिक राजनैतिक, तथा शास्त्रसम्बन्धी किसी नियम के विरुद्ध अपनी सहायता करने की प्रार्थना करना। ऐसे अवसर पर मित्र की प्रार्थना को अस्वीकार करना यद्यपि पूर्णरूप से प्रशंसनीय है, तथापि प्रार्थना करने वाले मित्र इस अस्वीकृति को मित्र भाव के नियमों के प्रतिकूल प्रतिपादन किया करते हैं। और चूंकि ऐसी प्रार्थना करनेवाले नित्न सब

भांति के अन्याय कर्मों में भी अपने मित्र का साथ देने को प्रस्तुत हो सकते हैं, इस लिये वे अपनी इस मर्याद रहित प्रार्थना के अस्वीकार होने पर और भी अधिकतर सन्तप्त होते हैं। इस प्रकार के मतिभेद से केवल यही नहीं, कि घनिष्ट मित्रता में असीम अन्तर पड़ गया हो, किन्तु अशान्तनीय वैराग्नि भी प्रज्वलित हो जाती है। सारांश यह है कि इस संसार की साधारण मित्रता ऐसे ऐसे कई कारणों से नष्ट हो सकती है। शिवप्रसाद के कथनानुसार मित्रता को अविच्छिन्न दृढ़ रखने के लिये केवल विशेष सुबुद्धि ही की आवश्यकता नहीं, किन्तु विशेष सौभाग्य की भी आवश्यकता होती है।

इस लिए अब हम को इस प्रश्न के निर्णय करने की सब से प्रथम आवश्यकता है कि "मित्रता के अधिकारों की वास्तविक सीमा क्या है?"

सब से पहिले मैं यह अविवाद सिद्धान्त वर्णन करता हूं कि "चाहे कैसी ही मित्रता क्यों न हो, कुकर्म तो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकता।" क्योंकि जब हम सच्ची मित्रता का आधार धर्म और सदाचार पर मान चुके हैं तो फिर किसी और अधर्म और दुराचार की चेष्टा प्रगट होने

पर मित्रता का पूर्ववत् स्थिर रहना सर्वथा असंभव है। इसी लिए दो मित्रों के परस्पर सब ही प्रकार की प्रार्थना तथा उस की स्वीकृति सर्वथा उचित होना, उस ही अवस्था में माना जा सकता है कि जब वे मित्र ऐसे हों कि जिन का कोई भी कार्य धर्मविरुद्ध कदापि नहीं हो सकता हो। परन्तु मनुष्यों में ऐसा होना असंभव है। सुतराम् मित्रता के अधिकार भी निर्विवाद नहीं हो सकते। इस उमोत्तम सम्बन्ध के लिए अत्यावश्यक नियम यह होना चाहिये—"धर्म और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल न तो कोई प्रार्थना होनी ही चाहिये और न ऐसी प्रार्थना स्वीकार ही होनी चाहिये।"

अपने मित्र की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल उस से कोई कार्य कराने लिये कदापि मत कहो। और इस ही नियम के अनुसार तुम भी उस के प्रत्येक अवसर पर सहाय करने के लिये कटिवद्ध रहो। जब तक हम उपर्युक्त नियमानुसार वर्ताव करते रहेंगे तब तक मित्रता को आघात देनेवाला कोई कारण उपस्थित न हो सकेगा। दूसरा नियम जिस का वर्ताव सच्चे मित्रों को कर्तव्य है यह है- "अपने मित्र को शुद्धान्तःकरण से किसी प्रकार के

भांति के अन्याय कर्मों में भी अपने मित्र क
देने को प्रस्तुत हो सकते हैं, इस लिये वे
इस मर्याद रहित प्रार्थना के अस्वीकार हो
और भी अधिकतर सन्तप्त होते हैं। इस प्रश्न
मतिभेद से केवल यही नहीं, कि घनिष्ट मित्र
असीम अन्तर पड़ गया हो, किन्तु
वैराग्नि भी प्रज्वलित हो जाती है। सारांश
कि इस संसार की साधारण मित्रता ऐसे ऐसे
कारणों से नष्ट हो सकती है। शिवप्रसाद के
नानुसार मित्रता को अविच्छिन्न दृढ़ रखने के
केवल विशेष सुबुद्धि ही की आवश्यकता नहीं,
विशेष सौभाग्य की भी आवश्यकता होती है।

इस लिए अब हम को इस प्रश्न के
करने की सब से प्रथम आवश्यकता है कि
के अधिकारों की वास्तविक सीमा क्या है?"

सब से ...

र मित्रता का पूर्ववत् स्थिर रहना सर्वथा असंभव
। इसी लिए दो मित्रों के परस्पर सब ही प्रकार
ी प्रार्थना तथा उस की स्वीकृति सर्वथा उचित
ोना, उस ही अवस्था में माना जा सकता है कि
व वे मित्र ऐसे हों कि जिन का कोई भी कार्य
र्मविरुद्ध कदापि नहीं हो सकता हो । परन्तु
नुष्यों में ऐसा होना असंभव है। सुतराम् मित्रता
ं अधिकार भी निर्विवाद नहीं हो सकते । इस
ोत्तम सम्बन्ध के लिए अत्यावश्यक नियम यह
ोना चाहिये—"धर्म और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल
तो कोई प्रार्थना होनी ही चाहिये और न ऐसी
ार्थना स्वीकार ही होनी चाहिये।"

अपने मित्र की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल उस से
ोई कार्य कराने लिये कदापि मत कहो। और
स ही नियम के अनुसार तुम भी उस के प्रत्येक
अवसर पर सहाय करने के लिये कटिबद्ध रहो।
तब तक हम उपर्युक्त नियमानुसार वर्ताव करते
हेंगे तब तक मित्रता को आघात देनेवाला कोई
कारण उपस्थित न हो सकेगा । दूसरा नियम
जेस का वर्ताव सच्चे मित्रों को कर्तव्य है यह है-
अपने मित्र को शुद्धान्तःकरण से किसी प्रकार के

लाग लपेट विना स्पष्ट सम्मति देने को सदैव प्रस्तुत
रहो।" सच्चे मित्र की सम्मति एक प्रकार की
आज्ञारूप हुआ करती है और उस को स्वतंत्रता
पूर्वक देनाही मित्र के लिए प्रचुर नहीं कहा जा
सकता किन्तु आवश्यकता हो तो पूर्ण वल और
कटुता का प्रयोजन भी सर्वथा वांछित हुआ करता है

कितने ही विद्वानों का यह मत है कि मनुष्य
को अपने ही काम वहुत हैं इसलिए दूसरों से
मित्रता करके जान वूझ कर उन के धंधों में पड़ना
वुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। इन का यह भी कथन
है कि यदि मित्रता की भी जावे तो फिर इस
वन्धन को सुदृढ़ न कर के ऐसा शिथिल रखना
चाहिये कि अवसरानुसार इसका छेदन करना सदैव
अपने स्वतंत्र ही वना रहे। इन लोगों का ऐसा
सिद्धान्त है कि "मनुष्य सुख का सव से आवश्यक
अंग निश्चिन्त होना है और दूसरों के धंधों में चलाकर
पड़नेवाले के सुख का प्राप्त करना सर्वथा असंभव है।"

कितनों ही का यह मत है कि मैत्री केवल
स्वार्थिक व्यापार मात्र है, और इस के करने का
कारण पारस्परिक प्रीति और उपकार न होकर
वह सहाय और लाभ की । है कि जिस के

ऊपर मित्रता की स्थिति है। इसीलिए इनके मतानुसार मित्रता के अर्थी वेही मनुष्य हुवा करते हैं जो स्वभाव अथवा भाग्यवश अपनी निज की सामर्थ्य पर कुछ भरोसा नहीं कर सकते और जिन को इसही लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की अभिरुचि इस बंधन की ओर अधिकतर देखी जाती है; और इसी भांति धनाढ्य और भाग्यशालियों की अपेक्षा दरिद्री और दुःखित जन ही मित्रता की शरण अधिकतर लिया करते हैं।

धन्य हैं इन विद्वानों को ! मेरी समझ में तो मित्रता के बंधन का धार्म्मिक निष्ठा से कुछ सम्बन्ध न रखना सूर्यनारायण से प्रकाश का कुछ सम्बन्ध न रखने के समान है। क्योंकि जैसे सूर्य और प्रकाश का अविच्छिन्न सम्बन्ध है उसी प्रकार मित्रता और धर्म का भी है। परमेश्वर के प्रदान किये हुये सुख और आनन्द के हेतुओं में से सूर्य और मित्रता सर्वश्रेष्ठ हैं। परन्तु इन विद्वानों की कथन की हुई निश्चिन्तावस्था क्या है ? इस का निरूपण भी हम को करना चाहिये । हमारी समझ में किसी प्रशस्त और उत्तम कार्य को इस भय से न करना

कि सङ्ग के हाथ में लेने से न मालूम क्या क्या विपत्ति और कठिनाइयां उपस्थित होंगी, पुरुषत्व का कार्य कदापि न होगा। यदि ऐसा ही हो तो आगन्तुक दुःखादि के विचार से धर्मकार्य में प्रवृत्त न होना भी उत्तम मार्ग समझा जाना चाहिये, क्योंकि ऐसी दशा में धार्मिक मनुष्य पातकी मनुष्यों के आचरण में कोई दोष न देखेंगे क्या न्यायी, साहसी और साधु पुरुषों को अन्याय, भय और दुष्टता के उदाहरण देखते ही स्वाभाविक अरुचि और ग्लानि नहीं उत्पन्न होती ?

हृदय के विकारों का यदि सर्वथा नाश कर दिया जावे तो मनुष्य और पशु में ही नहीं वरंच मनुष्य और अचेतन मृत्पिण्ड में भी क्या भेद अवशिष्ट रहेगा ? इसलिए उन वैज्ञानिकों का अनुकरण सर्वथा त्याग करना चाहिये कि जिन के सिद्धान्तानुसार धर्म मनुष्य की आत्मा को उस के उत्तम और शिष्ट विकारों के विरुद्ध पथराने अर्थात् प्रस्तरवत् कठोर करने वाला कहा जाता है। वास्तव में यह बिलकुल उलटी है। सच्चे साधु पुरुष का हृदय अवसरों पर अतिशय नम्रतर विकारों को प्रगट

करते हुए देखा गया है। वह मित्र के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होता है।

जैसा कि हम पहिले वर्णन कर चुके हैं धर्म में एक प्रकार की मोहनीशक्ति है कि जिस के द्वारा धार्मिक जनों के हृदय एक प्रकार के अज्ञात और गूढ कारण से स्वयमेव परस्पर आकर्षित हो जाते हैं और फिर यह सद्योजात शुभाकांक्षा उन को और भी निकटतर ले जाती है कि जिस का अन्तिम परिणाम दृढ मैत्री देखने में आता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि उच्चाधिकार की प्रतिष्ठा, विशाल और सुन्दरभवन, बहुमूल्य वस्त्राभरण और अन्यान्य उत्तम और प्रशस्त पदार्थ तो हमारे मनों को मोहन करनेवाले माने जावें और धार्मिकसौन्दर्य में ऐसी शक्ति का सर्वथा अभाव माना जाय ! इस के अतिरिक्त मनुष्यों के आचरणों की समानता भी उन को मित्रता के सम्बन्ध में संघटित करने का प्रबल हेतु है।

मेरे निकट यह सिद्धान्त स्वतः सिद्ध है कि धार्मिक जन एक प्रकार के आन्तरिक विकार से कि जो उन के हृदय में दृढरूप से विद्यमान होता है पारस्परिक शुभाकांक्षा के भावों को स्वभावतः

प्रगट करते हैं और यही भाव सच्ची मित्रता का मूल कारण है। साधु मनुष्य का उपकार एकही पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य के साथ ही हम को वही उदार वर्ताव का परिचय मिलता है, क्योंकि सच्चा धर्म वही है जो एकदेशीय वर्ताव से संवेष्टित न होकर अपने परोपकार को सर्व साधारण में समानता से विस्तृत करे।

जो मनुष्य यह कहते हैं कि "मित्रता के सम्बन्ध् का मुख्य कारण स्वार्थ ही है" वे पुरुष मेरी सम्मति में मित्रता को इस के सर्वोत्कृष्ट और मनोरञ्जक भाव से वञ्चित करते हैं। क्योंकि उत्तम पुरुषों की मित्रता स्वार्थ वृद्धि के हेतु नहीं होती, किन्तु वह एक स्वाभाविक प्रेमाधार के कारण उत्पन्न होती है। हम प्रायः देखते हैं कि मित्रता के सर्वोत्तम उदाहरण उनही महापुरुषों में पाये जाते हैं जो राज्याधिकार, सम्पत्ति, और धार्मिकोन्नति के कारण दूसरों की सहाय लेने के लिये किसी भांति भी मुहताज़ नहीं हैं। इस स्थल पर शायद यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या हमारे मित्र वेही होने चाहिये कि जो अपनी समस्त वांछाओं निज गुणों से ही परिपूर्ण कर सकते हैं?

अपने लिये तो मैं यह निःसन्देह कह सकता हूं कि यदि ऐसे अवसर न उपस्थित हुये होते कि जिन से शिवप्रसाद की और मेरी मित्रता की परीक्षा के कारण हमारा परस्पर का प्रेमभाव दृढ़तर न हुवा हो, तो हम दोनों ही एक प्रकार के अलौकिक सन्तोष से सर्वथा ही वंचित रहते।

मित्रता से स्वार्थ सिद्धि भी होती है; परन्तु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि मित्रता की उत्पत्ति ही स्वार्थ से हो।

हे परमेश्वर! क्या इस पृथ्वीतल पर कोई ऐसा भी मनुष्य है जो, इस नियम पर कि वह अपने किसी एक भी स्नेहभाजन अथवा हितैषी से कदापि कुछ भी सम्बन्ध न रक्खे, जान बूझ कर भी इस संसार के समस्त वैभव और सम्पदा को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हो? ऐसा करना तो एक निन्दित प्रजापीडक राजा के दुःखमय जीवन का स्वीकार करना मात्र है कि जो संतत भ्रम और भयों के मध्य अपने शोकमय दिवसों को व्यतीत करता है और सच्ची मित्रता के हार्दिक सन्तोष और सुख से सर्वथा वंचित है। क्योंकि जिस से भय की संभावना है उस से कौन अनुराग कर सकता है?

अथवा दूसरों के हृदय में भय की स्थिति का ज्ञान वर्तमान रहते स्नेह क्योंकर उत्पन्न हो सकता है? जिस स्वामी का सेवकों को सदैव डर बना रहता है उस की कभी कभी खुशामद तो भलेही हो जावे, कि जिस से मनुष्य उस के साथ बनावटी प्रीति प्रगट कर सकें, परन्तु वास्तविक स्नेह की उत्पत्ति ऐसी दशा में सर्वथा असम्भव है।

लक्ष्मी यद्यपि स्वयं अन्ध नहीं होती तथापि यह अपने कृपापात्रों को अवश्य अन्ध बना देती है। निर्बल बुद्धिवाले मनुष्य लक्ष्मी के मन्दमुसकान से मुग्ध हो कर प्रायः अभिमान धारण कर बैठते हैं और सच तो यह है कि वैभवशाली मूर्ख के समान इस पृथ्वीतल पर असह्य मनुष्य दूसरा कोई भी नहीं है। जो मनुष्य पहिले नम्रस्वभाव और मृदु देखे गये हैं वैभवावस्था उन में भी बहुत विस्मयजनक परिवर्तन कर देती है; और फिर वे ऐसे उन्मत्त हो जाते हैं कि अपने प्राचीन (पूर्व) मित्रों का भी अनादर करने लगते हैं और अपने नवीन सम्बन्धों में पूर्णतः व्यस्तग्रस्त हो जाते हैं। परन्तु सामर्थ्य और धन सम्पदा की वृद्धि होने पर चटक मटक के परिजन, भड़कीले वस्त्र और बहु-

भूल्य पात्रादि के प्राप्त करने की इच्छा में निमग्न होकर ऐसे सुअवसर में इस मनुष्य जन्म के सर्वो-त्कृष्ट आभूषण अर्थात् मित्र के लाभार्थ कुछ प्रयत्न न करना सब से बढ़ कर मूर्खता प्रगट करना है। ऐसे आचरण की पूर्ण अयोग्यता का विश्वास उस समय और भी अधिकतर होता है कि जब हम मनमाना व्यय करने पर भी उपर्युक्त पदार्थों के सदैव स्थिर रहने की आशा नहीं कर सकते क्योंकि जो कोई उन पर प्रबलतर भाव से आक्र-मण करेगा वे उसी के आधीन हो जाँयगे; परन्तु सच्चा मित्र एक ऐसा अपूर्व अटूट भंडार है कि जिस को कोई भी बलशाली, चाहे कैसा ही बलिष्ठ क्यों न हो, कदापि नहीं छीन सकता। इस के अतिरिक्त, सौभाग्य और लक्ष्मी की कृपा को हम यदि चिरस्थायी और नहीं परिणत होनेवाली भी मान लें तो भी किसी हार्दिक प्राणप्रिय मित्र के न होने से वह कैसी नीरस और स्वादुरहित प्रतीत होगी!

अब हम को कोई ऐसी सीमा नियत करनी चाहिये कि जिस के अनुसार मित्रता का व्यवहार किया जाना उचित हो। इस विषय पर तीन

प्रस्ताव प्रायः किये जाते हैं। (१) " सब गुरु-कार्यों में हम को हमारे मित्र के साथ ठीक ऐसी भांति का वर्ताव करना चाहिये कि मानों वे कार्य खास हमारे ही हों। " (२) " हमारे सब कार्य ठीक ऐसे और इतने ही होने चाहिये कि जैसे और जितने वह (हमारा मित्र) हमारे साथ किया करता है। " (३) " मित्र के सब कार्यों में हमारा वर्ताव ठीक उनही भावों से होना चाहिये कि जिन भावों से वह स्वयं उन को (अपने कार्यों को) देखता और करता हो "। परन्तु इन तीनों नियमों में ऐसा एक भी नहीं है कि जिस के साथ मेरी पूर्ण सम्मति हो। मेरे विचार में प्रथम प्रस्ताव तो इसलिए उचित नहीं है कि बहुत से कार्य ऐसे हैं जिन में अपना निज का सम्बन्ध रहने पर तो हम ऐसे दत्तचित्त नहीं हो सकते जितने कि हम हमारे मित्र के हेतु हो सकते हैं। यथा, अपने मित्र की भलाई के लिये हम तुच्छ और अकुलीन मनुष्य की भी याचना करने को प्रस्तुत हो सकते हैं; और इसी भांति उस की वृथा निन्दा तथा अप्रतिष्ठा करनेवाले का बदला लेने को भी उद्युक्त हो सकते हैं। परन्तु अपने निज के लिए ऐसे कार्य करने को

कदापि प्रसन्न न होंगे । इस के उपरान्त कितनेही ऐसे भी काम हैं कि जिन की प्रशंसा से अपने प्रिय मित्र को प्रतिष्ठित करने के लिये बहुत से उदारचित्त मनुष्य जान बूझ कर उन पर अपना हाथ नहीं डालते हैं।

दूसरा प्रस्ताव इस लिए ग्राह्य नहीं हो सकता कि इस के अनुसार वर्ताव करने से दो मित्रों की अवस्था ठीक ऋण देनेवाले और ऋण लेनेवाले मनुष्यों के समान हो जाती है। फिर तो मित्रता भी वाणिज्यमात्र रही । सच्ची मैत्री अपने उपकार और उत्तम कार्यों में ऐसे महाजनी विचार कदापि नहीं कर सकती; किन्तु मित्र से जो लाभ हम ग्रहण करते हैं हमारी सदैव यही इच्छा रहती है कि हम इन से कहीं अधिकतर उपकार हमारे मित्र को पहुचावें। वरंच सच्चे मित्र को तो इस वणिक व्यवहार से इतनी ग्लानि है कि तखड़ी के दो पलड़ों में से एक को पूर्ण भर कर दूसरे को बिलकुलही खाली रखना उस को अधिकतर अभीष्ट होता है।

तीसरा प्रस्ताव तो इन दोनों से भी गया बीता है। ऐसे कितने ही मनुष्य हैं जो अपने निज के गुणों को बहुत लघु दृष्टि से देखते हैं और इसी

लिए वे अपनी उन्नति के हेतु किसी प्रकार का प्रयत्न करने में बहुत शिथिल और हतोत्साह रहते हैं। इस दशा में उन की उन्नति के लिये क्या उन के मित्रों के भाव भी इसी सीमा के भीतर रहने चाहिये ? कदापि नहीं। उचित है कि ऐसी दशा में मित्र का धर्म है कि जहां तक संभव हो अपने मित्र के चित्त से इस शिथिलता और हतोत्साह को दूर करे और उस के विचारों को उत्तमोत्तम आशाओं के द्वारा प्रफुल्लित करे · उपर्युक्त नियमों के दूषण वतलाने पर उन के स्थान में दूसरे लक्षण वताना भी आवश्यक है; परन्तु अपनी सम्मति प्रगट करने से पूर्व इस विषय में मैं शिवप्रसाद का मत प्रगट करना उचित समझता हूं। शिवप्रसाद बहुधा कहा करते थे कि इस प्रसिद्ध सम्मति—“ तुम्हारे मित्र की और तुम्हारी प्रीति की इस भांति व्यवस्था करो कि जिस से तुम को इस वात की स्मृति वनी रहे कि शायद कभी ऐसा समय भी उपस्थित हो सकता है कि जब तुम को उस की निन्दा करनी पड़े”—से विशेष हानिकारक उप· देश सच्ची मित्रता के लिए दूसरा कोई भी नहीं है। सच तो यह है कि जिस मनुष्य के विषय में तुम्हारी ऐसी मति हो कि भविष्यत में शायद तुम

को उस की निन्दा करनी पड़े, उस के साथ मिल-
भाव का आचरण कदापि संभव नहीं हो सकता।
शिवप्रसाद के अनुसार यथार्थ सम्मति यह होनी
चाहिये। "मित्रता करते समय हम को सदैव ऐसे
सचेत रहना चाहिये कि हमारा स्नेह पूर्व से ही ऐसे
स्थान में कदापि न रक्खाजाय कि जहां भविष्यत में
उस के प्रतिकूल भावों के प्रगट होने की कुछ संभावना
हो।" तथापि यदि हम ऐसे भी मंदभागी हों कि
हमारी प्रीति अयोग्य स्थान में रख दें तो भविष्यत
की प्रतिकूल दैवघटनाओं का विचार न कर के
हमारे लिए यही उत्तम होगा कि हम सदैव ऐसे
प्रयत्न में लगे रहें कि जिस से किसी प्रकार का
विसंवाद उठने ही न पावे।

मेरे निकट मित्रता करते समय हम को इन
बातों का ध्यान रखना उचित है:—(१) इस
सम्बन्ध को करते समय हम को इतनी सावधानी
रखनी चाहिये कि जिन के साथ हम मित्रता करते हैं
वे यथार्थ और साधुचरित्र के मनुष्य हैं। (२) दोनों
भावी मित्रों को अपने समस्त विचार, अनुराग और
मनोरथ परस्पर में स्पष्टरूप से निष्कपट होकर प्रगट
कर देने चाहिये। मैं तो यहां तक भी कथन करने

दौड़ जाता है, और मित्रता होने से पूर्व ऐस परीक्षा असंभव हो जाती है। इस लिए बुद्धिमान को चाहिये कि अपने पूर्वानुराग को ऐसा परिमि रक्खें कि अपने भावी मित्र के गुणागुण की थोड़ी बहुत परीक्षा करने के प्रथमही वह एकाएक उस से पूर्ण मित्रता न कर बैठें। कितने ही तो ऐसे होते हैं कि थोड़े से ही द्रव्य व्यवहार से उन की मित्रता की असत्यता झटपट प्रगट हो जाती है, और कितने ही ऐसे होते हैं कि जिन की परीक्षा के हेतु बहुत धन की अपेक्षा हुवा करती है। तथापि विरले ऐसे भी हो सकते हैं कि जो अपने मित्र के लिये कितनी ही आर्थिक हानि सहने को उद्युक्त हो जायं; परन्तु ऐसा कौन सा मनुष्य है कि जो अपनी मनोवांछा पूर्ण करने के लिए, यदि इस से मिलता में कुछ आघात लगता हो, मित्रता का परित्याग करने को प्रस्तुत न हो ? मनुष्य की प्रकृति साधारणरूप से ऐसी प्रवल नहीं होती कि ऐसे २ मनोहर प्रलोभनों की मोहिनी शक्ति का सामना कर सके। ऐसे अवसरों पर मनुष्य अपनी आत्मा का संतोष प्रायः इस बात से कर लेते हैं कि यद्यपि इस धन और राज्याधिकार की प्राप्ति के लिए उन

को मिलता के धर्म्मों का परित्याग करना पड़ता है, परन्तु यह जगत उन के वैभव के प्रकाश से ऐसा चकाचौंध हो जायगा कि उन के इस अनुचित वर्ताव की ओर कुछ ध्यान नहीं दे सकेगा । और इसी से कहा जाता है कि जो मनुष्य राज्यप्रतिष्ठा और अधिकारों के प्राप्त करने में व्यग्र होते हैं उन में सच्ची और निष्कपट मित्रता प्रायः वहुतही न्यून देखी जाती है ।

सच्ची मित्रता की परीक्षा एक और भी है, और इस में पार पड़नेवाले भी विरले ही होते हैं । दूसरों की विपत्ति में जानबूझ कर पड़ना मनुष्य को प्रायः पसन्द नहीं होता । परन्तु यह विपत्ति ही का समय है कि जिस में मित्रता की सचाई और दृढता की पूरी परीक्षा हो सकती है । सारांश यह है कि उस के विपत्ति के दिनों में मित्र को छोड़ देना और अपने वैभव के समय में उस को भूल जाना ये दोनों कसौटी ऐसी हैं कि जिन के द्वारा मैत्री की शिथिलता और अस्थिरता भली भांति प्रगट हो जाती है । इन परीक्षाओं में स्थिर और निश्चल स्नेह बना रखने का गुण इसी लिए इतना उत्तम कहा जा सकता है कि मानो इस का होना

मनुष्य में देवांश का प्रतिपादन करता हो।

स्वभाव की स्थिरता और धीरता के लिए सब से प्रबल सहाय मनुष्य को अपनी निज प्रतिष्ठा के विचार से मिला करती है। जिस को अपनी निज प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नहीं अथवा थोड़ा विचार है वह दूसरों का विश्वासपात्र नहीं कहला सकता। दृढ मैत्री के लिए केवल यही आवश्यक नहीं होता कि हमारे मित्र का स्वभाव हमारे अनुकूल ही हो, किन्तु यह भी अत्यावश्यक है कि हमारे मित्र का हृदय शुद्ध, निष्कपट और उदार भी हो; क्योंकि जहां पर इन में से एक भी गुण का अभाव होगा वहां सच्ची और चिरस्थायी मित्रता की आशा नहीं की जा सकती। सच्ची मित्रता और छल कपट में परस्पर पूर्वापर विरोध है। इसी लिये जिन मनुष्यों के मन एक ही धारा में न वहते हों वहां मित्रता की स्थिति सर्वथा असंभव है। इस के उपरान्त मित्र को मित्र के अवगुणों की निन्दा करने में भी आनन्द नहीं मानना चाहिये और न कभी अपने मित्र को दूसरों के ईर्षावश लगाये हुए दूषणों से ही दूषित समझना चाहिये।

इन बातों से प्रमाणित होता है कि जो सिद्धान्त

सच्ची मैत्री केवल धार्मिक पुरुषों में ही पाई जासकती है—हम इस विषय के आदि में कह आये हैं वह सर्वथा ठीक है । क्योंकि प्रथम तो जिस मनुष्य का हृदय शुद्ध है वह सज्जन प्रगट में शत्रु बनना तो भलेही अंगीकार करले परन्तु विषकुंभ-पयोमुख मित्र का आचरण करने को कभी प्रसन्न न होगा । द्वितीय, इसही हृदय की सरलता के कारण वह अपने मित्र को दूसरों के लगाये हुए लांछनों से निर्दोष सिद्ध करने से ही सन्तुष्ट न होगा किन्तु स्वयं भी अपने मन में कभी ऐसा संदेह उत्पन्न नहीं होने देगा कि जो मित्रता का किसी प्रकार से भी बाधक हो सके ।

मित्र की बोलचाल में जितनी मधुरता और उस के आचरण में जितनी सरलता, शुद्धता और नम्रता होती है मनुष्य का मन उस की संगति से उतना ही अधिक प्रसन्न भी होता है । किसी २ समय गंभीरता और कठोरता भी निस्सन्देह उपयुक्त होती है, तथापि मित्रता का स्वरूप तो सदैव ही प्रसन्नचित्त, सरल और नम्र होना ही अपेक्षित है ।

बहुत से मनुष्यों का यह प्रश्न है-"केवल प्राचीन मित्र की मित्रता से सदैव सन्तुष्ट न रह कर उत्त-

मोत्तम गुणों से विभूषित नवीन मनुष्य के साथ मित्रता करना क्या अधिकतर उत्तम नहीं होता?" यह प्रश्न शायद इस आधार पर स्थिर है। क्या बूढ़े घोड़े के स्थान में नवीन अश्व को ग्रहण करना उत्तम नहीं है? परन्तु मेरी संमति में यह तर्क बुद्धिमानों को बिलकुल शोभा नहीं देती। दूसरे पदार्थ तो वारंवार सेवन करने से अन्त में कुछ आनन्ददायक नहीं रहते, परन्तु मित्रता एक ऐसी अपूर्व वस्तु है कि यह जितनी प्राचीन होती है उतनी ही अधिक आनन्ददायिनी होती जाती है। कहावत भी है; "एक मनुष्य के दूसरे के साथ बैठकर कितनी ही वार भोजन कर लेने के (लवण खाने के) विना उन दोनों में दृढ़ मित्रता नहीं कही जा सकती।" इस से यह प्रयोजन नहीं है कि एक मित्र करलेने पर दूसरा मित्र कदापि न करना चाहिये। परन्तु इतना ही है कि नवीन २ मित्र करते जाना और प्राचीन मित्रों को छोड़ते जाना सर्वथा अयोग्य है। हमारा कथन तो यहां तक भी है कि उचित अवसर होने पर मनुष्य भलेही नवीन मित्रता करे, परन्तु प्राचीन मित्रों को वह फिर भी अधिकतर प्रतिष्ठा से देखता रहे।

प्रायः यह भी देखाजाता है कि कितने ही मित्रों के मानसिक गुणों और उन की सामाजिक अवस्थाओं में बहुत असमानता होती है। ऐसी दशा में उस मनुष्य को जिस की दशा अपने मित्र से उत्तम है इस भांति से व्यवहार करना चाहिये कि मानों उस को यह ज्ञात ही नहीं कि उस की दशा मित्र की दशा से उत्कृष्ट है। जो कुछ सुख मनुष्य को अपने गुण, मानसिक उन्नति, अथवा आकस्मिक भाग्योदयादि के कारण प्राप्त हों, उस को उचित है कि वे सब अपने मित्र तथा कुटुम्ब को भी उदारभाव से पहुंचावे। इस हीं भांति यदि इस मनुष्य का जन्म किसी अप्रसिद्ध अर्थात् धनहीन वंश में हुवा हो और उस के सगोत्री और सम्बन्धी ऐसी दुःखावस्थाओं में हों कि जिन को उस के राज्यवैभव और बुद्धि व्युत्पत्त्यादि की सहायता की अपेक्षा हो, तो उस का धर्म है कि अपनी प्रतिष्ठा, अपने धन और अपने बुद्धिबल के द्वारा उन की न्यूनताओं की पूर्ति करके उन को उन की योग्यतानुसार यथोचित लाभ पहुंचावे। सारांश यह है कि सब प्रकार की समुन्नति के समय सुमतिमान् मनुष्य को इस से अधिक आनंद किसी कार्य में

भी नहीं हो सकता कि जितना उस को इस समु-
न्नति का लाभ उन मनुष्यों को पहुंचाने में प्राप्त
होता है कि जिन का (जन्म, जाति, अथवा मित्रता
के कारण से) उस से कुछ भी सम्बन्ध हो।

मित्रमंडली में से अपने प्राकृतिक अथवा
मानसिक गुणों के कारण समुन्नत मनुष्य का जिस
प्रकार यह कर्तव्य है कि वह अपनी उन्नत दशा
का विचार कदापि न करे, उसी प्रकार उस के मित्रों
का भी यह कर्तव्य है कि वे उस की उत्कृष्ट दशा
को देख कर किंचिन्मात्र भी ईर्षा, द्वेष, तथा अस-
न्तोष प्रगट न करें। प्रायः देखा गया है कि अवन-
तदशावाले मनुष्य अपने मित्र से कई प्रकार की
अयोग्य आशा कर बैठते हैं; कभी २ वे इस बात
की शिकायत करते हैं कि हमारा मित्र हमारी ओर
उचित ध्यान नहीं देता; और कभी २ वे उस से
प्रगट रूप से विवाद करने को उद्युक्त हो जाते हैं;
परन्तु यह दशा विशेषतः उस समय पहुंचती है
कि जब पहले उन्हों ने उस के साथ कुछ उपकार
किये हों। परन्तु हमारी समझ में उपकृत मनुष्य
का तो यह धर्म अवश्य है कि अपने उपकार करने
वालों का सदैव कृतज्ञ रहे, परन्तु उपकार करने

वालों का स्वयं ही अपने उपकारों का स्मरण दिलाकर उपालंभ देने को उद्युक्त होना सर्वथा निन्दनीय है।

यह भी ज्ञात रहे कि समुन्नत मित्र के लिये अपने अन्य मित्रों की वांछाओं को यथाशक्ति पूर्ण करते रहना ही यथेष्ट नहीं हो सकता है; किन्तु उसे उचित है कि जहां तक संभव हो उन को अपनी समानावस्था में लाने का प्रयत्न करे।

यह कार्य दो बातों पर दृष्टि रखकर किया जाना चाहिये। (१) हमारी सामर्थ्य की सीमा और (२) मित्र की योग्यता की सीमा। क्योंकि मनुष्य की सामर्थ्य चाहे कैसी ही विस्तृत क्यों न हो सम्पूर्ण मित्रों को समानावस्था में समुन्नत करना उस के लिये सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार मित्र के गुणागुण का विचार न कर के उस को समुन्नत करना भी केवल मूर्खता ही नहीं किन्तु अपनी प्रतिष्ठा भी संदिग्ध करना है यदि तुम को राज्य के सम्पूर्ण अधिकार मनमाने मनुष्यों को दे देने की सामर्थ्य भी प्राप्त हो तो अपने मित्रों की समुन्नति करने के पूर्व तुम को इन दो बातों का पूर्वापर अवश्य विचार कर लेना चाहियेः–(१) तुम्हारे मित्रों

की योग्यता उन के अभिलषित पदों के योग्य है या नहीं; और (२) वे इन पदों के कर्तव्यों को अप और सर्वसाधारण के लाभ की दृष्टि से व्यवहा में ला सकेंगे या नहीं, अर्थात् उन के इन पदों प नियुक्त किये जाने से उन का और सर्वसाधारण क हानि लाभ क्या है ?

मित्रता के धर्मों और कर्तव्यों का वर्णन कर समय हम को यह ज्ञान लेना भी आवश्यक है कि यहां पर मित्रता से हमारा अभिप्राय उस है पारस्परिक स्नेहबंधन से है कि जो मनुष्य व परिपक्वावस्था प्राप्त होने पर संग्रथित होता है क्योंकि इसी समय में मनुष्यों के आचार व्यवहा का यथार्थ निश्चय हो सकता है और इसी सम में ही उन की विचारशक्ति भी सम्पूर्णता को प्रा होती है। वाल्यावस्था के साथी, कि जिन के सा लड़कपन के दिवस कई प्रकार के कौतुक क्रीड़ादि व्यतीत किये जाते हैं, मित्रों की गणना में नहीं सकते हैं। हमारी वाल्यावस्था के स्नेहभाजन यदि मित्र कहलाने लगें तो हमारी धाय और हमारे चटशालाध्यापक और सहपाठी तो निसन्देह ही मित्रता की प्रथम श्रेणी में आसीन

होंगे । उन के साथ भी हमारा दृढ़ संबन्ध तो अवश्य है, परन्तु यह सम्बन्ध मैत्री के संबन्ध से विलकुल भिन्न ही प्रकार का है । सच तो यह है कि यदि प्राथमिक स्नेहबंधन ही मैत्री का आधार माना जावेगा तो फिर मित्रता का चिरस्थायी होना सर्वथा असंभव हो जायगा । क्योंकि यह बात सब को प्रत्यक्ष है कि परिपक्वावस्था तक मनुष्य के विचार आचार आदि सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। इस दशा में मैत्री के स्थिर प्रेमांकुर का जमना कैसे बन सकता है ?

कितने ही मनुष्यों का प्रेम अपने मित्रों के ऊपर यथोचित सीमा से भी अधिकतर देखा जाता है । परन्तु यह मर्याद-रहित प्रेम सदैव हानिकारक सिद्ध होता है । कितने ही मनुष्य अपने मित्रों से एक क्षण भर भी अलग नहीं रह सकते। परन्तु ऐसे कई अवसर हैं कि जिन में वियोग भी बहुत लाभदायक प्रमाणित होता है । वियोग के सहन करने की असामर्थ्य का प्रगट करना उस पुरुषत्व की न्यूनता विदित करता है कि जिस के विना सच्ची मित्रता निराधार कही जा सकती है । इस से भी वही बात सिद्ध होती है जो हम पूर्वही कहचुके हैं कि मित्रता

के व्यवहार में पूर्ण विचार के विना न तो कोई प्रार्थना ही करनी चाहिये और न स्वीकृत ही होनी चाहिये।

अब हम अपना ध्यान संसार की साधारण मित्रताओं की ओर करते हैं। ऐसे सम्बन्धों में दुर्भाग्यवश कभी कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि जब एक प्रतिष्ठित मनुष्य को अपना मित्रबन्धन तोड़ना उचित प्रतीत हो। किसी प्रकार का दुष्टाचरण अथवा दुष्टस्वभाव अपने मित्र में दैवात् ऐसा प्रगट हो जाता है कि जिस को उस की निन्दा का साझी बनने के सिवाय कदापि नहीं सहन किया जा सकता। ऐसी दशा में यही उत्तम होगा कि मित्रभाव के बन्धन को धीरे धीरे और क्रमशः शिथिल होने दे। महात्मा केटो* का कथन है कि मित्रता के बंधन का एकाएक छेदन न कर के उस को धीरे धीरे उधड़ने देना ही सर्वथा उचित है।

प्रायः होता है कि स्वभाव और आ-
रिवर्त्तन से और राजकीय विषयों में
से भी ऐसे (अर्थात् साधारण)

*—रूमदेशीय प्रसिद्ध विद्वान् और राजनैतिक। इस का जन्म मसीह के प्रादुर्भाव से १५० वर्ष के पूर्व हुआ था।

मित्रों में विसंवाद उत्पन्न हो जाता है। इस लिये इन मित्रों को चाहिये कि सदैव इन बातों से पूर्ण सचेत रहें। नहीं तो उन के बर्तावों से संसार को यह कथन करने का अवसर मिल जायगा कि उन की हार्दिक मित्रता ही नष्ट नहीं हुई है किन्तु वे परस्पर में एक दूसरे के कट्टर शत्रु बन गये हैं। जिस मनुष्य के साथ पहिले हमारा मित्रता का व्यवहाररह चुका है उस से प्रत्यक्ष में शत्रुता करना अत्यन्त ही अनुचित है।

मित्रता के व्यापार में सब से प्रथम सावधानता इस बात की करनी चाहिये कि परस्पर विसंवाद का कोई भी अवसर उपस्थित न हो। परन्तु यदि ऐसा कोई अवसर दैवात् आ भी उपस्थित हो तो फिर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिस से मित्रता का दीपक एकवारगी अचानक गुल न होकर धीरे २ बुझता हुवा दृष्टि आवे। सब से अधिक इस बात का स्मरण रहना आवश्यक है कि विसंवाद के समय मित्रों को कुवाच्य का प्रयोग न करना पड़े। यदि एक ने विना विचारे कठोर वचन भी कह मारे हों, तो दूसरे मित्र को उचित है कि धैर्य पूर्वक श्रवण करले, और कुछ उत्तर न दे। क्योंकि

ऐसा करने से निन्दा करनेवाला ही लोगों की दृष्टि में अपराधी निश्चय होगा।

उपर्युक्त विपत्तियों से बचने के लिये सब से उत्तम उपाय यह है:—"मित्रता करने में शीघ्रता कदापि ही नहीं करनी चाहिये।" इस से उतर कर दूसरा उपाय यह है:—"जो इस योग्य न हों उन से मित्रता कदापि न करे।" मित्रता के लिये वही पुरुष योग्य समझा जा सकता है कि जो अन्यान्य सब प्रकार के विचारों को छोड़ कर केवल अपने निज के गुणों से दूसरों की प्रीति और प्रतिष्ठा का पात्र हो। इस प्रकार के मनुष्य निस्संदेह बहुत ही विरले हैं। शोक केवल इस बात का है कि सर्वसाधारण की दृष्टि में प्रायः वही मनुष्य योग्य समझा जाता है जिस से उन को अपनी स्वार्थसिद्धि की कुछ आशा हो। ऐसे पुरुषों का स्नेह अपने मित्रों के साथ ठीक वैसाही और उतना ही होता है जैसा और जितना अपने गाय, बैल और भेड़ बकरी के साथ हो, अर्थात् उन की प्रीति उन के स्वार्थ के न्यूनाधिक्य के अनुसार हुवा करती है।

इसलिये ये मनुष्य हार्दिक मित्रता के सच्चे

लाभों से सम्पूर्णतः अनभिज्ञ रहते हैं। स्वार्थ रहित मैत्री की स्थिति का निश्चय उन को तब ही हो सकता है जब हम उन को उन के निज के अन्तःकरण के भावों की ओर दृष्टि देने का उपदेश करें। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का जो अनुराग अपनी आत्मा के साथ है वह किसी वास्तविक स्वार्थ पर निर्भर नहीं करता, किन्तु उस स्वाभाविक स्नेह के कारण से होता है कि जिस की स्थिति हरएक के हृदय में प्राकृतिक नियमानुसार हुआ करती है। यदि यही प्राकृतिक स्नेह मित्रता में परिवर्त्तन न किया जा सके तो सच्चे मित्र की आशा सर्वथा वृथा है; क्योंकि सच्चा मित्र कोई अन्य पदार्थ नहीं, किन्तु अपना दूसरा स्वरूपमात्र है।

ये दो नियम समस्त प्राणीमात्र में देखे जाते हैं। (१) प्रत्येक प्राणी को निजात्मा अत्यन्त प्रिय होती है; और (२) प्रत्येक प्राणी का अपने सजातीय के साथ विजातियों की अपेक्षा अधिकतर स्नेह होता है। परन्तु मनुष्य के हृदय में तो प्रकृति ने आत्मानुराग और सामाजिक स्नेह को पूर्ण दृढ़ कर दिया है। इस सामाजिकस्नेह के कारण मनुष्य अपने स्वजातियों के साथ सहवास करने मात्र से

ही सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु वह उन में से ऐसे मनुष्य को चुन लेता है कि जिस के विचारों से परिपूर्ण मेलजोल कर के वे दोनों ऐसे हो जाते हैं, मानों दोनों के शरीरों में एक ही आत्मा का प्रवेश हो।

मनुष्यों का विचार सदैव ऐसा रहा करता है कि उन में चाहे कितनेही अवगुण हों परन्तु उन के मित्र तो सर्वथा निर्दोष होने चाहिये। उचित यह है कि प्रथम अपने दोषों का सुधार कर के पीछे ऐसे साथी को ढूंढना चाहिये कि जिस में अपने गुणों की प्रतिमूर्ति ज्यों की त्यों पायी जाय। ऐसा करने से ही उस अविचल मैत्री की जड़ अंकुरित हो सकती है कि जिस का वर्णन हम अब तक करते चले आये हैं। क्योंकि जब इस की नींव उन विचारों पर है कि जो संसार के सामान्य और नीच विचारों से कहीं बढकर हैं तो फिर इस की (मित्रभाव की) स्थिति के विचलित होने का भय क्योंकर हो सकता है? जब दोनों ही मित्र न्याय का अवलम्बन करते हैं तो वे परस्पर में यथा संभव एक दूसरे की सहायता स्वयं ही करते चले जांयगे, क्योंकि किसी को भी यह आशंका नहीं होगी कि

र का मित्र उस को कुछ अन्याय करने के लिये
ध्य करे। इस के कारण वे एक दूसरे के प्रेमपात्र
नहीं किन्तु प्रतिष्ठापात्र भी बन जाते हैं। मैं ने
तिष्ठा का नाम इसलिये लिया है कि यदि मित्रता
साथ २ आदर सत्कार की वृद्धि नहीं हुई तो
स दशा में वह मैत्री एक सर्वोत्तम और सब से
न्दर आभूषण से रहित है।

इसलिये मित्रता के नियमों को धर्म्म के
नयमों से भी बढ़ कर समझना बड़ी भारी भूल है।
ामाजिक स्नेह का बीज मनुष्य के हृदय में इस
निमित्त से नहीं बोया गया है कि मनुष्य एक दूसरे
के पापकर्म का संगी हो, किन्तु इस का फल पार-
परिक धार्मिकसहायक होना है। परन्तु सहायता
के बिना धार्मिक उन्नति उस सीमा को नहीं पहुं-
चती कि जिस को वह अपने प्राणप्रिय और उदार
मित्र की सहायता से पहुंचती है। इस लिये जो मनुष्य
इस प्रकार की उत्तम मित्रता के बंधन से शृंखलित

के उद्देश्य, प्रतिष्ठा, सुयश और सुख की प्राप्ति हो
चाहिये, और यह सिद्धि धार्मिक आचरण के वि
कदापि नहीं हो सकती। इसलिये मित्रता का अ
लम्बन भी वही साधु आचरण है। जिन मनुष्
का ऐसा विचार है कि सच्ची मित्रता का ला
साधुता के बिना भी हो सकता है, उन को अपन
भूल उस समय प्रत्यक्ष हो जायगी कि जब को
विपत्ति आकर पड़े।

विवेक को व्यवहार में लाने से पूर्व प्रीति के
अंकुर को हमारे हृदय में कदापि नहीं जमने देना
चाहिये; क्योंकि हमारी अविचारित शीघ्रता से
अधिक भयंकर हानि होने के लिये इस से अति-
रिक्त और कोई कार्य्य नहीं हो सकता है; परन्तु
संसार ऐसा मूर्ख है; कि विवेक को उस समय तक
कुछ काम में नहीं लिया जाता कि जब आचार विचार
कुछ भी लाभदायक नहीं रहता। और इसी लिये
मित्रता का सम्बन्ध हो जाने और पारस्परिक कई
उत्तम व्यवहार प्रगट में आजाने के पीछे कुछ
ऐसा दूषण जो अब तक गुप्त था प्रत्यक्ष होता है
कि जिस से मैत्री की शृंखला अकस्मात् टूट जाती
है। मनुष्य के समस्त कार्यों में मित्रता ही "केवल"

ऐसा कार्य है कि जिस की उत्कृष्टता और गुरुता में किसी को भी कुछ सन्देह नहीं है। इसी कारण इस सम्बन्ध में मनुष्य का अविचार और भी विशेष निन्दनीय है। "केवल" इस लिये कहा गया है कि अन्यान्य कार्यों की तो कथा ही क्या है, स्वयं धर्म तक को भी तो सब मनुष्य समान प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखते। कितने ही मनुष्य धर्म को केवल दिखाऊ सामग्री मात्र मानते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो कदर्य्यान्न के आहार और पर्णशाला के निवास से परितृप्त होकर धन सम्पत्ति की कुछ प्रतिष्ठा नहीं करते। ऐसे भी कई हैं कि जो राज्याधिकारों को मनुष्य की सम्पत्ति में सब से अधिक क्षणस्थायी समझते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य समस्त पदार्थ कि जिन का मनुष्यों से सम्बन्ध है ऐसे ही हैं कि जिन को कुछ मनुष्य तो प्रतिष्ठा की और कुछ निन्दा की दृष्टि से देखते हैं। परंतु मित्रता के विषय में समस्त लोक ही एकमत हैं। दस्तकार, राज्याधिकारी, वैरागी, ध्यानी, ज्ञानी और विषयी सब एकमत होकर यह कहते हैं कि मित्रता के विना मनुष्य जीवन में कुछ आनन्द नहीं है। हम नहीं जानते कि मित्रभाव किस अद्भुत और अनि-

वीर्य मोहनशक्ति के द्वारा प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों के हृदयों में समावेश कर जाता है और मानव-जीवन की समस्त दशाओं में जा मिलता है। यदि इस जगत में कोई ऐसा मनुष्य भी पाया जावे कि जो मनुष्यमात्र को घृणा की दृष्टि से देखता हो, तथापि मैं कह सकता हूं कि यह विश्वामित्र * भी किसी ऐसे साथी के बिना नहीं रह सकेगा कि जिस को वह अपने हृदय के आन्तरिक द्वेषभाव को प्रगट कर सके। सच तो यह है कि किसी दैव माया से हम ऐसे निर्जन स्थान में पहुंचाये जावें के जहां पर मनुष्य के अपेक्षित समस्त सामग्री उपस्थित हों परन्तु मनुष्यजाति का दर्शन वहां पर सर्वथा असंभव हो, तो मेरी दृष्टि में इस अखिल ब्रह्माण्ड में एक भी मनुष्य ऐसा असभ्य न निकलेगा जो उपर्युक्त जनशून्यदशा में सानन्द रह सके। किसी ने कहा है :—"मनुष्य को यदि स्वर्ग में लेजाकर इस समस्त ब्रह्माण्ड की सौंदर्य सामग्री भी उस के नेत्रों के सामने विस्तृत की जावे तो इस अद्भुत दशा से उस को तब तक कुछ भी आनन्द नहीं हो सकता कि जब तक वहां पर ऐसा एक

* विश्वामित्र = जगत् का शत्रु।

भी मनुष्य न हो कि जिस के संमुख वह यह सब आनन्द के समाचार कह सके।" मानव प्रकृति की रचना ही इस भांति की है कि उस को दूसरे के विना किसी विषय का आनन्द ही नहीं आसकता। मनुष्य भी उन वल्लरियों के समान कि जो दूसरे वृक्ष के आश्रय के विना जीवित ही नहीं रह सकती, एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति के कारण अपने स्वजातियों की ओर झुकता है और सब से अधिक आनन्द और सहाय उस को अपने किसी विश्वस्त मित्र के आलिंगन के समय ही प्राप्त होते हैं।

मित्रता के कार्य इतने अधिक और विविध हैं कि उन के निर्वाह करने में छोटे छोटे कई प्रतिवन्ध खड़े हो सकते हैं; परन्तु साधुजन समयानुसार या तो उन को विलकुल दूर कर देते हैं, या तुच्छ समझ लेते हैं, अथवा सहन ही कर जाते हैं। परन्तु एक धर्म ऐसा मुख्य है कि शतशः भय विद्यमान रहने पर भी जिस का निर्वाह करना मित्र के लिये अत्यन्त ही आवश्यक है; यह कर्तव्य अपने मित्र को चिताने और यदि आवश्यक हो तो झिड़कने का है, और मुझे विश्वास है कि यदि प्रीतिपूर्वक किया जाय, तो सानन्द स्वीकृत भी होगा। यह प्रसिद्ध है कि चाटुभाषण से शान्ति और सत्य-

भाषण से शत्रुता उत्पन्न होती है। परन्तु यदि सत्य भाषण से ही मित्रता का विनाश हो, तो निस्संदेह हम को ऐसे अनुचित परिणाम से महादुखी होना चाहिये। तथापि मेरे निकट तो सामयिक चितावनी और झिड़की न देने के हेतु अपनी मित्रता का सर्वनाश होता देखना इस से भी कहीं अधिकतर दुःखदायक है। परन्तु ऐसे भयानक अवसरों पर हम को इस का परिपूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि हमारे उपदेश और ताड़न में किंचिन्मात्र भी कटुता और कठोरता न झलके। जहां तक शिष्टता और सदाचार का अतिक्रम न हो चाटुभाषण का प्रयोग कुछ हानिकारक नहीं हो सकता; परन्तु मित्र के दुराचरण और अधर्म की खुशामद तो सदा ही नीच और निन्दनीय है। क्या मित्र के साथ भी हमारा वही व्यवहार होना चाहिये कि जो स्वेच्छाचारी और प्रजापीड़क स्वामी के साथ हम को लाचार करना पड़ता है? उस मनुष्य का आचरण निस्संदेह अत्यन्त ही निन्दनीय है कि जो अपने हितैषी प्रियमित्र के उपदेशों की ओर अपने नेत्र मूंद सकता है। महात्मा केटो * का कथन है कि

* केटो = खीष्ट संवत्सरारम्भ से अनुमान १५० वर्ष पूर्वकालीन रूमनीय विद्वान्।

कितने ही मनुष्य अपने प्रियंवद मित्रों की अपेक्षा अपने कड़े शत्रुओं के अधिकतर कृतज्ञ होते हैं; क्योंकि शत्रुओं के मुख से तो उन को सत्य के श्रवण करने का अवसर प्रायः मिल भी जाता है, परन्तु मित्रों के मुख से कदापि नहीं मिलता। सारांश यह है कि मनुष्यों की रुचि और अरुचि प्रायः अयोग्य विषयों में हुआ करती है। उपदेश को अरुचि-कर और अधर्म को रुचिकर समझते हैं। परन्तु वास्तव में इस का प्रतिकूल व्यवहार ही श्रेयस्कर है।

उपदेश का देना और ग्रहण करना भी सच्ची मित्रता के वास्तविक अंग हैं। उपदेशक का धर्म है कि जो उपदेश दे वह निर्भय होकर स्वाधीनत पूर्वक दे, परन्तु कठोरता और निष्ठुरता का प्रयोग कदापि न करे। इसी प्रकार ग्रहण करनेवाले क कर्तव्य यह है कि मित्र के उपदेश को शहनशीलत और शान्तभाव के साथ ही ग्रहण करे, औ किंचिन्मात्र भी अनिच्छा और अरुचि प्रगट न करे। चाटुभाषण और मिथ्या प्रशंसा मैत्री के लि सब से बढकर हानिकारक हैं। मैं इस विषय क विस्तारपूर्वक इसलिये वर्णन करता हूं कि कित

दूसरों को भी इस के करने की प्रेरणा मिलती है। इस से यह भी विदित है कि जिस मनुष्य को अपने गुणों का विशेष अभिमान होगा वही मनुष्य इस विष से विशेष दुःखित भी होगा। परन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिये कि निज गुणों का ज्ञान आत्मसन्तोष के योग्य सर्वथा ही नहीं होता। किन्तु इतनाही है कि संसार में वृथाभिमानियों की संख्या वास्तविक गुणवानों से वहुत ही अधिक है; और हम यहां पर केवल वृथाभिमानियों का ही वर्णन कर रहे हैं। वे ही मनुष्य मिथ्याप्रशंसा [खुशामद] से प्रसन्न भी होते हैं, क्योंकि दूसरों से प्रशंसित होने पर उन को अपने अभ्यर्थित गुणों पर विशेष श्रद्धा हो जाती है।

इस से प्रत्यक्ष है कि एक मित्र तो जहां पर सत्यश्रवण करने से अप्रसन्न है, और दूसरा सत्यभाषण करना चाहता ही नहीं, वहां सच्ची मित्रता की स्थिति कदापि नहीं रह सकती।

इस में कुछ संशय नहीं कि खुशामद से विशेष हानि वहुधा उनही को पहुंचती है कि जो दूसरों को अपनी मिथ्या प्रसंशा करने का स्वयं ही साहस प्रदान करते हैं; परन्तु यह वात सर्वथा ही सत्य

नहीं है, क्योंकि प्रियंवदता कभी कभी इन के अतिरिक्त दूसरे मनुष्यों पर भी अपना अधिकार जमा लेती है। संसार में एक प्रकार की ऐसी भी विशेष मिथ्या प्रशंसा है कि जिस के जाल में बड़े बड़े बुद्धिमान भी फँस जाते हैं। इसलिये कुछ उस का वर्णन भी यहां पर किया जाता है। यह सत्य है कि कुत्सित और प्रगट आत्मानुरोधता तो मूर्खों के अतिरिक्त किसी मनुष्य को भी प्रतारित नहीं कर सकती; परन्तु एक ऐसी अप्रगट प्रियंवदता भी है कि जिस के आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिये बुद्धिमानों को भी सदैव सचेत रहने की आवश्यकता है। इस महाप्रबल और हानिकारक शस्त्र को धारण करनेवाला प्रियवादी अपने प्रयोजन को प्रतिकूलता द्वारा भी सिद्ध करलेता है। यह दुष्ट छलपूर्वक पहिले अपनी वह सम्मति प्रगट कर बैठता है कि जो वास्तव में उस की न हो, और फिर तुम्हारे साथ विवाद करना प्रारंभ कर देता है कि जिस से अन्त में तुम को विजयी होने का आनन्द प्राप्त हो। परन्तु इस प्रकार प्रतारित होने के सिवाय अधिकतर लज्जा की बात और कोई नहीं हो सकती। इसलिये ऐसे कपट जालों से सुरक्षित

तीव्र क्यों न हों, विशेष क्लेशदायक नहीं होते।

जिस विषय पर तुम ने मुझ से प्रश्न कि
था उस का उत्तर मैंने यथासंभव स्पष्ट स्पष्ट तुम
दे दिया है। अपनी सम्पूर्ण सम्मति के अन्त में
तुम को केवल एक यह बात फिर स्मरण कराता
कि धार्मिक आचरण के आधार के बिना
मित्रता की स्थिति कदापि ही नहीं रह सकती;
धर्म के अतिरिक्त इस संसार में मित्रता के सम
और कोई लाभ नहीं है ॥ शुभम् ॥

ए तथा हमारे ग्रामीण निवासों में वास करते
मय भी हम सदैव एक साथ ही रहे थे। और
स के जितलाने की तो कुछ आवश्यकता ही नहीं
ै कि हम दोनों ही की विज्ञानशास्त्र में बहुत बड़ी
अभिरुचि थी, कि जिस के कारण जो समय हम
को राज्यसेवा कर लेने के उपरान्त मिलता वह हम
दोनों बड़े आनन्द के साथ किसी न किसी लाभ-
कारी विद्योपार्जन में व्यतीत किया करते थे। यदि
शिवप्रसाद के मरते ही इन आनन्ददायक विषयों
के स्मरण करने की शक्ति भी जाती रहती तो अपने
ऐसे प्राणप्रिय मित्र का वियोग सहन करना मेरे लिये
वास्तव ही में असंभव हो जाता; परन्तु ये विषय
मेरे हृदय पर ऐसे दृढ़ अंकित हैं कि कदापि नहीं
मिट सकते, और वे मुझे जितने अधिक याद आते
हैं उतने ही अधिकतर अंकित होते जाते हैं। इस
के सिवाय यदि यह संभव भी हो कि मैं इन सन्तो-
षदायक विषयों को स्मरण करने से वंचित रहूं,
तथापि अपनी जरावस्था देखने से मुझे पूर्ण सन्तोष
प्राप्त होगा कि सृष्टिक्रम को देखते अब मैं भी शिव-
प्रसाद से दीर्घकाल तक वियुक्त नहीं रहूंगा और
तुम जानते हो कि चणिक कष्ट चाहे कितने ही

मनुष्यही सदैव वड़ी प्रतिष्ठा के साथ लेते रहें
और भविष्यत में कोई मनुष्य भी शिवप्रसाद
को अपना उदाहरण बनाने के विना किसी बड़े
कार्य को अपने हाथ में न लेगा, और न उस
में कृतकार्य हो सकेगा। अपने सम्बन्ध में
तो मैं यहां तक कह सकता हूं कि दैव संयोग के
तथा अपनी निज की योग्यता के कारण से मुझे
जितने सुख प्राप्त हैं उन सब से अधिकतम गौरव का
पद मैं शिवप्रसाद की और अपनी मित्रता को प्रदान
करता हूं। मैं ने उसे अपने देश के, राज्य के और
घरू कार्यों में सदैव ही एक अत्यन्त सच्चा शुभ-
चिन्तक और दृढ़ मित्र पाया था। मैं नहीं जानता
कि मैं ने उसे किसी समय किसी प्रकार भी अप्रसन्न
किया हो, और मुझे निश्चय है कि मैं ने उस के
मुख से किसी समय में एक शब्द भी ऐसा नहीं सुना
कि जिस के उच्चारण करने के लिए मुझे कुछ भी
पश्चात्ताप करना पड़ा हो। हम दोनों ने केवल एक
घर में निवास ही नहीं किया था, केवल एक मेज़
पर बैठ कर भोजन ही नहीं किया था, किन्तु हम
कितनी ही सैनिक सेवाओं (युद्धों) में भी एक साथ
रहे; इस के अतिरिक्त देशान्तरों में यात्रा करते

तीव्र क्यों न हों, विशेष क्लेशदायक नहीं होते।

जिस विषय पर तुम ने मुझ से प्रश्न किया था उस का उत्तर मैंने यथासंभव स्पष्ट स्पष्ट तुम को दे दिया है। अपनी सम्पूर्ण सम्मति के अन्त में तुम को केवल एक यह बात फिर स्मरण कराता हूं कि धार्मिक आचरण के आधार के विना सच्ची मित्रता की स्थिति कदापि ही नहीं रह सकती; धर्म के अतिरिक्त इस संसार में मित्रता के और कोई लाभ नहीं है॥

हरिचन्द्र नं २१

राजेन्द्र-मालती।

अमृतियारपुर ज़िला आरानिवासी

बाबू बृजनन्दन सहाय वकील

प्रणीत।

बाबू मिथिश्वरनाथ, बी० ए० बी० एल०, आरा, द्वारा प्रकाशित

पटना–"खड्गविलास" प्रेस बांकीपुर

चण्डीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित।

१९०८.

तृतीयवार १०००

दाम /) आना।

राजेन्द्र-मालती।

प्रथम परिच्छेद।

दो पहर रात बीत चुकी है। जोर से हवा चल रही है। अंधड़ पानी से जीव मात्र व्याकुल हो रहे हैं। घोर अन्धियारी के कारण कुछ दिखाई नहीं देता। मेघ की ठनक, दामिनी की दमक, प्रचंड वायु की सनक तथा वृक्षों की खड़क से कलेजा कांप उठता है। वारिद के घोर एवं गम्भीर गर्जन के अनन्तर तड़ित की अखण्ड तड़-तड़ाहट उस रथ की चक्रध्वनि की सुधि दिलाता है जो अपने किसी अति सुन्दर चिकने संगमरमर की सड़क पर चले और फिर किसी पीतल के पुल के खड़खड़ाहट के साथ बड़े वेग से निकल जाय। चपला रह २ कर इस अंधेरी में ऐसी चमक उठती है मानो शोकातुर आकाश के श्याम हृदय से शोक की ज्वाला निकलती हो। क्षण भर चारों ओर उंजेला हो जाता है और फिर घोर तम छा जाता है। मेघगर्जन मन्द एवं विद्युत प्रकाश मन्द होने पर इस घोर भयंकर रात्रि में आश्चर्य तथा भयजनक शब्द सुनाई पड़ता है॥

चारों ओर एक अद्भुत समा बंध रहा है। क्रमशः वृष्टि का वेग बढ़ता जाता है। वन में प्रचण्ड पवन की सनसनाहट क्या ही अलौकिक प्रतीत होती है। पत्तों की खड़खड़ाहट से कलेजा धड़क जाता है। जंगली जीव जन्तु व्याकुल हो कोलाहल कर रहे हैं मानो पिशाच गण इस भयंकर रात्रि में सानन्द विहार करते फिरते हों और उन के आगमन से जीव जन्तु, पशु पक्षी व्याकुल हो रहे हों। दादुरों की टर्राना तथा वनजन्तुओं का भयानक शब्द सुन कर शरीर कांप जाता है। देखो! झरना तथा छोटे २ नालों से जल कैसे वेग से बहने लगा। अब वृष्टि से कानन पानी २ हो गया। ओह! क्या

भूमिका।

स्काटलैंडीय सुविख्यातकवि तथा उपन्यासलेखक सर वाल्टर स्काट साहिब कृत "राकेबो" (Rokebey) नामक काव्य की छाया पर इस उपन्यास की रचना हुई है और रोचक होने के लिये अंग्रेज़ी नामों के बदले इस में सब हिन्दी नाम दिये गये हैं।

१८८७ ई० में जब कि मैं स्कूल में पढ़ता था, यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। वही संशोधित और परिवर्द्धित हो कर पुनः प्रकाशित हुई है।

अब बङ्गालप्रान्त के शिक्षाविभाग ने विहारादि प्रदेशों के हिन्दी स्कूलों के छात्रों को पुरस्कार एवं स्कूल लाइब्रेरी के लिये इसे स्वीकार कर के इस का आदर बढ़ाया है। आशा है कि हिन्दी रसिक-मंडली इसे आदर दे कर मेरा उत्साह बढ़ावेगी।

ग्रन्थकर्त्ता।

एक बार चपला चमक उठी। क्षण मात्र सर्वत्र उजेला हो गया, मानों गगनमंडल में आग लगी हो। इस समय इस को ज्ञात हुआ कि जिस पथ में यह चल रहा है वह बड़ा दुर्गम है, ज़राभी फिसल जाने से भयानक अन्धकारमय घोर अथवा अथाह जल में यह जा रहेगा। पर इस से यह कातर नहीं हुआ। तनिक भी इस का दिल न दहला।

इस का वाहन जल से सराबोर हो गया है। पर जंगी कवच से भली भांति ढके रहने के कारण इस के शरीर को पानी ज़रा भी स्पर्श नहीं करता।

इस समय यदि कोई यहां उपस्थित होता, और दामिनी के प्रकाश से इस का आनन देखता, तो समझता कि यह किसी निर्दिष्ट स्थान पर कोई अत्यावश्यक काम के लिये जा रहा है। जब इस बिचारे ने अपने स्थान से प्रस्थान किया था तब वृष्टि होने का कुछ सामान न था, आकाश की शोभा नक्षत्रों से ऐसी हो रही थी जैसे कोई रमणी नगजड़ित भूषणों से आभूषित हो। एकाएक यह घटा घिर आया। इसी से अवकाश न मिला कि पथिक कहीं रुक रहे और मिलता भी तो क्या? यह व्यक्ति कुछ कातर थोड़े ही है कि अम्बुद पानी के भय से कहीं छिप रहता अथवा पीछे पांव देता।

घोर कंदरा को छोड़ राह कुशलपूर्वक तय कर के यह एक तराई के निकटस्थ वन में उपस्थित हुआ। परन्तु इस के साहस को देख कर अब इन्द्र को भी दया आई जिस से वह हार मान गये। अम्बुद झड़ का वेग कम हुआ। आकाश स्वच्छ होने लगा। निशाकर भी आवभगत सी को आई फटते हुए बादलों की ओट से रह २ कर झांकने लगे।

यह देख पथिक कुछ आह्लादित हो अपने रथ को सवेग ? कर यह कहता हुआ आगे बढ़ा कि "वाह दाता! वे दिन

डरावनी रात ? आकाश चतुर्दिक सघन मेघमालाओं से आच्छादित हो रहा है। ऐसी निशा में अपराधी कदापि विश्राम लाभ नहीं कर सकता और न कुकर्मी सुखपूर्वक सो सकता है।

ऐसे समय में एक अश्वारोही अकेला अपने घोड़े को ड़ाइतक्ष फेंकता हुआ निःशंक इसी पहाड़ी राह से जा रहा है। यह कौन है।

इस उत्तंग पर्वत के ऐसे विकट मार्ग में इस भयावनी अंधेरी निशा में चलना क्या किसी साधारण प्राणी का काम है ? इन दर्रों के ऐसे असाध्य तथा वक्र मार्ग में चलने का मार्तण्ड का पूर्ण प्रकाश रहते पर तो मनुष्य साहस ही नहीं करता, रात में इन पहाड़ी नदियों के कूल पर होकर चलना क्या सहज बात है ?

पगडंडी की दोनों ओर विशाल-शाखा-वाले जंगली वृक्ष प्रचंड वायु वेग से झूम २ कर पथिक के सिर को जलबुन्दों से शीतल कर रहे हैं। इन पर सर्वत्र जुगनू का प्रकाश ऐसा हो रहा है मानों दयालु वनलतियां अपने दीन अथच साहसी पथिक को दीवा दिखाती हों। नदियों में सहस्रों दादुर टरटरा रहे हैं। और चारों ओर झिल्लियों की झंकार से कान झनझना जाता है।

पथिक अवश्य साहसी है। इस को निश्चय अपने प्राण का कुछ भी भय नहीं है। प्रतीत होता है कि यह मृत्युलोक का जीव नहीं है क्योंकि ऐसे काल में घर में रहकर भी मनुष्य भय खाता है और वायु तथा जल के झकोरे से बचने का यत्न करता है और इस को इस स्थान में भी जल और पवनादि का कुछ भय नहीं। इस पर उस का कुछ वश भी तो नहीं चलता क्योंकि इस के हृदय में किस्लानल पूर्ण रूप से धधक रहा है। इस घोर अंधेरी में जबकि दर्रों के जल प्रवाह में तरंगित फेन तक दिखाई नहीं देता इस व्यक्ति की आंखें ऐसी चमक रही हैं मानों किसी मण्डलायित विषधर या विपिनवासी क्रोधी .। का नेत्र चमकता हो।

इस व्यग्रता से मुक्ति होगी निद्रादेवी के सेवन की चेष्टा करने लगा। घंटों करवटें बदलने पर पद्मिनी की आंखें झिपीं, परन्तु तोभी चिन्ता से छुटकारा नहीं हुआ। जिस चिन्ता के प्राबल्य से यह जाग्रतावस्था में विकल था वही निद्रावस्था में इसे और भी सताने लगा।

इस के आन्तरिक भाव की छाया इस के मुखमण्डल पर स्पष्ट प्रतिबिम्बित होने लगी और इस के आनन की कान्ति क्षण २ बदलने लगी। कभी इस के मुखड़े पर लज्जा की कालिमाछा जाती, कभी भय की प्रबलता से इस का आनन रक्तवर्ण हो जाता, कभी ऐसा प्रतीत होता कि स्वप्न की उद्विग्नता से खड्ग वा कटार प्रहण करने की चेष्टा करता हो पर हाथ न आने से निराश हो शोकसागर में गोता खाने लगता हो जिस का प्रत्यक्ष चिन्ह इस के अधखुले नेत्रों में अश्रु-बिन्दु और मलिन कपोलों पर श्रमकण से प्रदर्शित हो रहा था॥

पद्मिनी एकबार अचानक चिहुंक उठा जिस से इस की निद्रा भंग हो गई और भय से कलेजा धड़कने लगा। आनन कपास सा हो गया, शरीर थरथराने लगा, और व्याकुलचित्त शय्या पर तकियों के सहारे उनींदा बैठा रहा। कांपती हुई जंची दीपशिखा को देखना और प्रत्येक घड़ी गढ़ के घण्टे को गिननाही इस का काम रहा। इस के कर्ण कुहर में श्वान और उल्लूकों का शब्द और शृगालों का हुंकार, अति शीतल समीर की सनसनाहट प्रवेश करने लगी॥

अचानक पद्मिनी का ध्यान पलङ्ग के तालहीन गाल तक पहुंचा जिस के सहारे यह अपना कठिन काल बिता रहा था। आंखों में आंसू भरकर और दीर्घ निःश्वास त्यागकर पद्मिनी कहने लगा कि "हाय! ऐश्वर्य, धन बसादो से किसी को सुख कदापि नहीं होता; सुन्दर स्वादिष्ट भोजन, पुष्पशय्या, अनन्त दास दासी, सुन्दर कोमलाङ्गी कामिनी ये सब किसी को सुखी नहीं करते। मनुष्य का ऐश्वर्य जितना ही बढ़ता है उतनाही लोभ की वृद्धि और सुख की

अब थोड़ा और साहस करो, अब कोई भय नहीं, अब आ गं परिश्रम का तुम्हें पूरा पुरस्कार मिलेगा"।

स्वामी की बात सुन अश्व कान उठा हिनहिनाता हुआ सवे आगे बढ़ा।

द्वितीय परिच्छेद।

आधी रात होने में घड़ी एक की देर थी। जगत सन्नाटा हो रहा था। सृष्टि घोर निन्द्रा में बेसुध हो रही थी। पशु पक्षी और ग्रामवासी सब के सब नीरव थे। केवल चिन्ताग्रसित एवं वियोगपीड़ित व्यक्ति जिन्हें स्वप्न में भी नींद नहीं आती पर्यङ्क पर पड़े करवटें ले रहे थे। श्वान, शृगाल और नरहन्ताजीव घात में चारो ओर भ्रमण कर रहे थे।

रात्रि अति सोहावनी थी। अनन्त नीलाकाश में उडुगनों के मध्य शशधर प्रकाशित हो संसार को आलोकमय कर रहा था। पर कभी २ पवनप्रेरित खंड २ मेघ उस के आनन को छिपा कर उस की कान्ति नाना भांति से परिवर्त्तित किया करते थे। इन्द्रगढ़ और गोदावरी पर चन्द्रज्योति का इस भांति रूपान्तर होता था जैसे किसीके मुख मंडल का स्वप्नावस्था मे होता है।

धीरे २ शब्द एकत्र होने लगे। थोड़ीही देर में चारोदिशा में घोर घटा छा गई और प्रलयकाल की भयानकदृष्टि आरम्भ होगई. इन्द्रगढ़ ने पवहरू ने पवन एवं कुभटिकापात से बचने के हेतु धुमिले रंग की धोघी सिर से पैर तक तानली। जिसकी श्याम छाया दृष्टि आरम्भ होने के पूर्व रमणीय तरंग के चंचल हृदय पर पड़ कर उसकी शोभा अधिक बढ़ा रही थी उसी गढ़ के अन्तःपुर में शोक एवं चिन्ताग्रस्त अश्विनीकुमार किसी की बाट जोह रहा था। पर्य्यङ्क पर पड़ा थोड़ी देर इसी दशा में विशेष दुःखी हो यह विचार कर कि सोजाने

के लिए यह इस प्रकार व्याकुल हो रहा था। परन्तु भद्दराम इस को बड़ाई सुन कर तिरस्कार भाव से विहंस उठा। फिर क्या था? "ठठेरे २ बदलाई" की कहावत हुई। भद्दराम भी इसी के सदृश इधर उधर की बातें करने लगा। मतलब की उसने एक भी न कही।

हार मानकर पद्मिनी ने पूछा "कहो भाई! लड़ाई कैसे २ हुई? तुम तो युद्ध की शुभखबरी अवश्य लाये होगे क्योंकि वीर पुरुष कभी संग्रामक्षेत्र से पराङ्मुख नहीं होते जब तक की घनघोर युद्ध न होले और वे स्वपौरुष तथा बाहुबल से रिपु यवनों को दमन न कर डालें।"

पद्मिनी का आशय समझ तिरस्कारपूर्वक विहंस कर भद्दराम कहने लगा "धन्य! महाराज धन्य! आप ऐसा न कहियेगा तो कौन कहेगा? आप सर्वदा गोदावरी के तरल तरंगों से चतुर्दिक शोभायमान इस सुदृढ़ दुर्ग में कालाक्षेप करते हैं; यदि कोई दूसरा उस रणक्षेत्र से, जहां सारे परिश्रम का यही पारितोषिक है कि या तो वह काल कलेवा हो या शरीर रुधिर का फ़व्वारा बने, जीवित बच कर इस सुरक्षित एवं सुखप्रद स्थान का सुख भागी होने पाया तो आप घबराने क्यों लगे?

पद्मिनी—हे मित्र! ठट्ठेबाज़ी मत करो। इस दुःखित हृदय को अपने व्यंगवचनों से विशेष पीड़ित मत करो। इस कुसमय में भी तुम्हें हंसी की सूझती है। वाह! देखो चतुर्दिक रिपु सेना हमलोगों के दल को सर्वनाश करने पर प्रस्तुत है। इस समय किसी को कोई सुधि लेने वाला नहीं है। सब के सब अपनी ही चिन्ता में लगे हुए हैं। भला यह हंसी दिल्लगी का समय है? भैया! समय विचारकर बातें करो।

भद्दराम—यदि आप सचमुच लड़ाई को सुनना चाहते हैं तो

प्राप्ति होती है। यावत सन्तोषरत्न प्राप्त नहीं होता चिन्ताग्रसित कदापि सुखी नहीं होता ॥

हाय प्रातःकाल जब सूर्योदय की बधाई पक्षीगण कलगान करेंगे और बाल रवि अपने तेज से भूतल के तिमिर को हरने पर उद्यत हो कर अपनी किरणों को पृथ्वी पर पसारें यह पङ्क भूशय्या पर निद्रा देवी के अङ्क में ऐसा सानन्द शयन क जैसा कोई अजान बालक अपनी माता की गोद में नि सोता है" ॥

अश्विनी इसी कल्प विकल्प में व्यग्र हो रहा था कि अक किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। अश्विनी ने घबड़ाकर जब क खोला तब क्या देखता है कि एक काला मनुष्य जिसकी कु भृकुटि, लाल २ प्रज्वलित नेत्र और प्रलम्ब बाहु से वीरता भ रही थी, द्वारपर खड़ा है। पाठक यह वही मनुष्य है जो विपिन से आरहा था। देखिये तो कठिन परिश्रम से इस के चेहरे चमड़ा कैसा सिकुड़ गया है। केश श्वेत हो चले हैं। इस अवस्था भी ऐसी वीरता! इतना साहस! हां, वयस ढलने से क्या? पौ पराक्रम में अभी तक यह जवानों की नाक काटता है।

देखिए इस के कटि प्रदेश में सुनहरे म्यान से एक खड्ग लटक र है, बांएं कांधे पर एक विशाल धनुष, पीठ पर बाणपूरित निषंग ए हाथ में एक तीक्ष्ण भाला शोभायमान हैं। यह रणक्षेत्र से सीधे च आरहा है ॥

"कौन है भद्दराम" ऐसा कहता हुआ उसे अपने अंक में लगा कौ सप्रेम उस का हाथ थाम कर अश्विनी उसे कमरे में लाया जहां कपा बन्द कर के दोनों ही आसन पर बैठे। उस से रणक्षेत्र का समाचा सुनने के लिए अश्विनी बहुत ही उत्कंठित था। पर इस की य इच्छा थी कि भद्दराम बिना पूछे स्वयं वे सब बातें सुनाये जिन्हें सुनने

योधा अपने रुधिर से निज कीर्ति इतिहास में लिख गए; वीरों ने कौन २ वीर काम आये और किन २ वीरों को समाधि को मैं अपनी बल से ग्रस कर सकता हूं।

"तुम पर यह बात भलीभांति विदित है कि सारे पश्चिम में मेरा परम शत्रु कौन है ? और किस से मैं अन्तःकरण से घृणा करता हूं ? जिस व्यक्ति के नाम से एक बार तुम्हें भी चौंक आती थी उस की क्या दशा हुई ? वह इस समय कहां है ?"

भट्टराम—मैं आप का तात्पर्य कुछ भी नहीं समझ सका आप स्पष्ट कहिये कि किस का समाचार सुनना चाहते हैं ? किस के लिये आप इतना व्यग्र हो रहे हैं?

इतना सुन कर अश्विनीकुमार क्रोध से भर उठा; लोचन विस्फारित हो गए; होठें फड़कने लगी और बड़े दर्प से बोला:—

"अरे पापी चांडाल ! तू ने रुधिरपात से मेरा ऋण चुकाया या नहीं ? क्या पोलू सिंह अभीतक जीवित है ? क्या मेरा मार्ग अभी तक निष्कण्टक नहीं हुआ ? अरे कृतघ्न ! तू ने जो अपने स्वामी के वध की प्रतिज्ञा की थी उसे पूरी की वा नहीं ?

भट्टराम अट्टहास करता हुआ बोला "यदि पोलू की सम्पत्ति तुम्हारा हो तो फिर तुम्हें धर्मयुद्ध से क्या काम ? यदि भट्टराम, यश नाश कर अपना ऋण चुकाये हो तो तुम्हें जगद्विख्यात वीरों के नष्ट होने का क्या शोक होगा ? यदि पोलू की गणना शव श्रेणी में हो तो तुम्हें रणक्षेत्र के रक्तपूर्ण होने का क्या सोच ? तब निश्चिन्त हो बैठो और मेरे संग इस प्रकार वार्तालाप करो जैसे रणविजयी लोग अपने प्रेमियों के संग बैठ कर प्रसन्नचित्त युद्ध की बातें करते हैं। एक वह दिन था कि मैं और पोलू दोनों ने साथ साथ कितनी लड़ाइयों में विजय लाभ किया, कितने जगद्विख्यात संग्रामों में भट्टराम की छाती पोलू के रक्षार्थ ढाल का काम करती रही। सिंध संग्राम

अममर्द सिंह अपने घातक की ओर देखे। अश्विनी! निश्चय जानो कि यही उस का अन्तिम देखना था।

"भाई! यह न समझो कि मैं वहां लड़ाई के अन्त तक ठहरा रहा पर मेरे रणभूमि परित्याग करने के पूर्व ही एक दक्षिणी का घोड़ा अपने स्वामी को गिराकर भाग गया। कुछ दूर निकल आने पर चित्रसिंह ने मुझे यह समाचार सुनाया कि शत्रुओं ने बाणवृष्टि से हमलोगों के दल को छिन्न भिन्न कर डाला। बहुतेरे रूपवान दक्षिणी युवकों ने भयभीत हो अपने अस्त्र को फेंक देके कर गोरि गुफा को राह ली।

"यह समाचार सत्य हो चाहे मिथ्या मैं तुम्हारे सदृश इस की कुछ परवाह नहीं करती क्योंकि 'मृतको नरके स्वर्गे वा बलिदाने प्रयोजनम्।'

अश्विनी—हे मित्र! तुम ने मेरा बड़ा उपकार किया। मैं यावत् जीवन तुम्हारा गुण न भूलूंगा। निःसन्देह तुमने बड़ी प्रशंसा का काम किया। जान पड़ता है मार्ग में चलने से तुम बहुत थक गये हो और रात भी थोड़ी बाकी है, अतएव तुम्हें कुछ विश्राम करना चाहिए।

महराज—अश्विनी! तुम निश्चय जानो, मैं यहां ठहरनेवाला नहीं अपने कुकर्म के भागियों पर विश्वास करना नहीं चाहिए। तुम इसे बुरा न मानो। मैं ठीक कहता हूं और अब यहां से चलना ही चाहता हूं। परन्तु इस विषय में हम लोगों ने कुछ निश्चय नहीं किया कि किस स्थान पर किस नियमानुसार और कब धन की सम्पत्ति हमलोग आपस में बांटेंगे। अब इस विषय का भी ध्यान देकर सुनो।

"तुम राजपाकर हो अतएव तुम को वे सब पदार्थ मिलना चाहिये जो तुम राज के नियमानुसार पाने के अधिकारी हो सकते हो, यथा उस का पैतृक धन और धनवान व्यक्ति तुम उस के निकट्स्थ सम्बन्धी हो और यह सब तुम्हें देने को मैं प्रस्तुत हूं। तब तुम क्या मेरे उसी के नियम को न मानोगे? क्यों नहीं? अवश्य मानना

में जब संध्या समय एक अरि ने पोलू पर कृपाणाघात की चेष्टा कर रखा था तो किस प्रकार मैं ने अपनी छोघो को अपने मित्र—नरीर स्वामी—पर डाल कर उस घात को निःशंक अपनी अनाच्छादित छाती पर सहर्ष सह लिया था। बङ्गाल की खाड़ी में किस प्रकार मैं ने पोलू को जलमग्न होते हुए जंगी जहाज़ से अपने अंक में लेकर एक बेड़े पर बैठे स्वयं मांझी का काम करता हुआ कुशल पूर्वक किनारे लाया था। हाय! मुझ पर पोलू की सदा असीम कृपा रहा करती थी, वह मुझे सदा अपना दक्षिण भुजा समझता था, मुझ पर पुत्र इव स्नेह रखता था। परन्तु यह बर्ताव बहुत दिनों तक न रहा। आपस में खटपट हो गया। मेरे अत्याचारों से निरुपाय हो कर उस ने मुझे अपने घर से निकाल दिया। पर मैं तो न कृषि करने के योग्य था और न वाणिज्य व्यापारा। अतएव निराश हो चतुर्दिक भूत सा भटकने लगा।

"पर हर्ष का विषय यही है कि समय आने पर पोलू सिंह ने मेरा एक बार फिर सत्कार किया और अपने दासों को शस्त्रविद्या की शिक्षा देने का भार मुझे अर्पण किया जिस से कृपाण लेकर वीरों से सामना करने का मुझे फिर सुअवसर मिला।

"अब पोलू सिंह की मृत्युसम्बन्धी बातें तुम से कहता हूं। ज्योंही मैंने अपने अस्त्र को फेंकदिया, पोलू का भाग्य निर्णय हो गया। ज्योंही दोनों दल सक्रोध घोर नाद करते हुए सम्मुख आये मेरे हृदय से करुणा का स्रोत पृथक हो गया और मैं पोलू के विनाश करने पर कटिबद्ध हुआ।

"जब सब के सब जय अथवा मृत्यु के निमित्त चेष्टा कर रहे थे और युद्ध का चारो ओर भयानक कोलाहल फैल रहा था मैं ने गोली मारी और पोलू का अश्व स्वामी के साथही भूतल पर गिरपड़ा। मरते समय पोलू ने मुझे ऐसी क्रोधदृष्टि से देखा मानो कोई भयानक

मनद सिंह अपने घातक की ओर देखे । अखिनो ! निश्चय जानो
क यही उस का अन्तिम देखना था ।

"भाई ! यह न समझो कि मैं वहां लड़ाई के अन्त तक ठहरा रहा
र मेरे रणभूमि परित्याग करने के पूर्व ही एक दक्षिणी का घोड़ा
पने स्वामी को गिराकर भाग गया । कुछ दूर निकल जाने पर
वसिंह ने मुझे यह समाचार सुनाया कि शत्रुओं ने बाणवृष्टि से
समोगों के दल को छिन्न भिन्न कर डाला । बहुतेरे रूपवान दक्षिणी
वीरों ने भयभीत हो अपने प्रभु को पेड देदे कर गौरि गुफ़ा क
ाह ली ।

"यह समाचार सत्य हो चाहे मिथ्या मैं तुम्हारे सदृश इस की
कुछ परवाह नहीं करता क्योंकि 'स्वतंत्रो नरके स्वर्गे वा वलिदाने
योजनम् ।'

अखिनो—हे मित्र । तुम ने मेरा बड़ा उपकार किया । मैं यावत्
जीवन तुम्हारा गुण न भूलूंगा । निःसन्देह तुमने बड़ी प्रशंसा का काम
किया । जान पड़ता है मार्ग में चलने से तुम बहुत थक गये हो और
रात भी थोड़ी बाकी है, अतएव तुम्हें कुछ विश्राम करना चाहिए ।

भट्टराम—अखिनो ! तुम निश्चय जानो, मैं यहां ठहरनेवाला नहीं
अपने कुटुम्बों के भावों पर विश्वास करना नहीं चाहिए । तुम इसे
बुरा न मानो । मैं ठीक कहता हूं और अब यहां से चलना ही
चाहता हूं । परन्तु इस विषय में हम लोगों ने कुछ निश्चय नहीं किया
कि किस स्थान पर किस नियमानुसार और कब पोलू की सम्पत्ति
हमलोग आपस में बांटेंगे । अब इस विषय को भी ध्यान देकर सुनलो ।

"तुम राजचाकर हो अतएव तुम को वे सब पदार्थ मिलना
चाहिये जो तुम राज के नियमानुसार पाने के अधिकारी हो सकते
हो, यथा उस का पैतृक धन और असबाब क्योंकि तुम उस के निक-
टस्थ सम्बन्धी हो और यह सब तुम्हें देने को मैं प्रस्तुत हूं । तब तुम
क्या मेरे ठगी के नियम को न मानोगे ? क्यों नहीं ? अवश्य मानना

होगा। इस लोगों का नियम ऐसा है कि यदि कोई हमलोगों का मित्र संग्राम में प्राण त्यागे तो हमलोग उस के लूट के मालको आपस में बांटलेते हैं और यदि कोई बलवान अरि युद्ध में मारा जाय तो उस की सम्पत्ति उस के घातक पर निछावर की जाती है। अब किसी रीत्यानुसार अलो पीलू की वह अनन्त लक्ष्मी मेरी हुई जिसे उस ने लंका की खान तथा हिमांचल की तराइयों से लूट कर अपने तमिस्र गुप्तभंडार में छिपारक्खी है। उस को ढूंढ़ने के लिये मैं पीलू के तमोध्वांत एवं गुप्त कोष के समीप गमन करना चाहता हूं तुम भी मेरे साथ चलो। यह सुन कर अश्विनी अवाक्य हो गया, परन्तु भद्रराम के पुनः छेड़ने पर बोला:—

"मित्र ! मैं तुम्हारे संग चलने में असमर्थ हूं। मैं इस दुर्ग को ऐसे समय में दासों के भरोसे अकेले नहीं छोड़ सकता। अतएव मेरा पुत्र जयकुमार तुम्हारा सहचर होगा।"

भद्रराम—मुझे क्या ? मेरे लिये दोनो बराबर हैं। तुम चलो, चाहे तुम्हारा पुत्र। मुझे तो केवल कोष की सोनहरी तालों से प्रयोजन है। पर तुम्हारे आन्तरिक भावों को मैं भलीभांति समझता हूं और उनपर मुझे हंसी आती है। अभी तक तुम निरे अज्ञान ही रहे। यदि मुझ से तुम किसी प्रकार की हानि किम्बा द्रोह का भय रखते हो तो तुम्हारी इस स्थान पर कौन रक्षा करता है ? मैं तुम्हारे इस दुर्ग की दीवारों से कहीं ऊंची दिवारें फांद सकता हूं। गोदावरी को क्या गणना, इस के पाट से कहीं चौड़े-पाट-वाली नदियों को तैर कर पार हो सकता हूं। इस के पूर्व्व की तुम्हारा किला [illegible]रवर्ती पहरुओं के ध्यान में पड़े, क्या मैं एक ही छपापाघात से तुम्हें [illegible]जय नहीं जीत सकता ? पर इनसब बातों के जताने का कुछ [illegible]ाम नहीं है। तुम अपने सोये हुये पुत्र को जगा दो, बहुत [illegible]ाग पहुचा। अब मैं जाना चाहता हूं।

तृतीय परिच्छेद।

जयकुमार का हृदय कोमल है। उस का दिल मलिनो ऐसा कठोर तथा निठुर नहीं है। बाल्यावस्था ही से वह अन्य कामों के बखेड़ों से कदापि कुछ सम्बन्ध नहीं रखता था, अहोरात्रि कालोदासादिकृत उत्तमोत्तम पुस्तकों तथा काव्यों के अध्ययन ही में प्रवृत्त रहता था। कभी सुन्दर शकुन्तला को विपत्ति पर रोते २ सो जाता, कभी महाश्वेता के कष्ट से दुखी हो दीर्घ निःश्वास परित्याग करता, कभी भर्तृहरी के रसमय काव्यों को पढ़ते २ बेसुध हो जाता। निदान, कुमार की उमर २० वर्ष तक इसी तरह कटी थी।

अनंतर भी अपने संगियों के साथ श्वान, अश्व, श्येन पची आदि को संग लेकर मृगया करने में उसे कुछ भी आनन्द नहीं मिलता था। वह लहराती नदियों एवं सुखद निर्झरों के तीर सानन्द अपने समय को व्यतीत करता था। कभी गिरिशृङ्गों पर चढ़ कर अनन्त नीलाकाश को छटा तथा चतुर्दिक पहाड़ों की असीम शोभा देखकर आनंदसागर में गोता लगाता। कानन, गुफा, घाटी, पुष्पितवाटिका, हरे भरे बाग तड़ाग, विकशितपुष्प, फल से लदे वृक्षसमूह वसन्त को नवपल्लवित डालियां, प्रभातविकशित कमल, सुगन्धमय गुलाब को चटकती हुई कलियां, शुक्लपक्ष की सुन्दर कुमोदनी, मत्तभ्रमरों का गम्भीर गुंजार और कलकंठ की सुमिष्ट कूक यही सब कुमार को अलौकिक सुख प्रदान करते थे।

कुछ दिन हुए कुमार की आंखें एक सुन्दरी से लड़गई थीं। वह इन्दुमुखी मालती थी जिस को अपनी बनाने की चेष्टा में कुमार सदा लगा रहता था। कुमार को प्रेम निवाहना तो कुछ कठिन न था क्योंकि उस के हृदय में मालती सदा निवास करती थी, पर उस से विवाह करना बहुत ही कठिन था क्योंकि कुमार मुंह खोल कर

अपने दिल की बात किसी पर प्रकट नहीं कर सकता था। कुमार का चित्त मालती के प्रेम में डूबा हुआ था, पर मालती के हृदय कुमार विषयक प्रेम अंकुरित भी नहीं हुआ था।

मालती की जयकुमार के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध था अब कि देश में चारों ओर युद्ध की खलबली उठी और पीलूगढ़ का ईश पीलूसिंह ने अपने दल को साज अरिगण के विनष्ट की चेष्टा में झंडा उठाया।

मालती इस समय अपने पिता के अजयगढ़ नामक दुर्ग में किसी प्रकार कालाक्षेप करती थी और पिता के संग्राम में जाने से बड़ा दुखी रहा करती थी। पर उसे दूसरी किसी बात की चिन्ता न थी क्योंकि चारों ओर घोर युद्ध फैल रहा था सही पर अबोध बालिका, कोमल स्त्रियां तथा दुर्बल हाथों पर कोई शस्त्राघात नहीं करता था।

जयकुमार अपनी प्रकृत्यानुसार युद्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता था। अतएव इस अवसर को जब अजयगढ़ का राजा रणभूमि को बहार लूट रहा था, सुलभ जानकर संध्या समय महानदी के कूल पर छिप २ कर इस घात में बैठने लगा कि अपनी हृदयेश्वरी मालती की झलक भी देख सके और उस की गयदगति एवं मनोहारिणी रूपभरी चितवन से अपने नेत्रों को सफल कर सके। विरहाकुल तथा अपनी प्यारी के ध्यान में कुमार इसी प्रकार बैठ २ कर अपना समय व्यतीत करने लगा। कभी हाथ में पेन्सिल लेकर कुछ लिखता, कभी कोई रसपूर्ण काव्य वा उपन्यास पाठ करता और कभी धीरे २ मधुर स्वर से गान करता।

जयकुमार अजयगढ़ के राजा के शत्रु पद्मिनी का पुत्र था। इसी से कदाचित् मालती का दर्शन पाता था। पर यह भी कह देना अनुचित नहीं होगा कि मालती इस से प्रेम नहीं रखती थी, और यह हो भी कैसे सकता था? भला प्रेम का उलटा देव कहां है?

मालती ही के विषय में तर्क वितर्क करते कुमार का विरह

समय जाता था। यद्यपि उस की बुद्धि प्रायः इस यत्न में लगी रहती कि उस के चित्त से प्रेमबेलि उखाड़ डाले पर उस का परिश्रम सदा निष्फल ही गया, क्योंकि कुमार ने सत्यवादी बुद्धि की परोपकार शुभशिक्षा पर कभी कान नहीं दिया। यद्यपि कुमार सुशील, सुजान तथा विज्ञ था, तथापि इस विषय में शुभाशुभ का कदापि कुछ विचार नहीं करता था। कारण कि कोमल कुमार "अनुरागदेव" का दास बन गया था और यामना के विमान पर एक रूपवती कामिनी को संग बैठाये आकाश पाताल की सैर किया करता था।

पाठक वृन्द। ऐसे युवा की यह दशा अवश्य शोचनीय है। जो "अनुरागदेव" का उपासक बना वह सुबुद्धि की हितशिक्षा पर कान नहीं देता। पर उस से उन लोगों की दशा कम शोचनीय नहीं है जो पूर्व ही अपने बालकों को धर्मोपदेश तथा सदशिक्षा प्रदान नहीं करते जिस में कि उन सबों का मन इन बातों की ओर न झुके। बालकों को यह सिखाना आवश्यक है कि किसी वस्तु की केवल बाह्य चमक दमक देख कर उस की ओर न झुके, उस को कांचा में अपनी हानि लाभ का विचार करले एवं उस की प्राप्ति की सम्भावना देख लें। नहीं तो पहिले उद्विग्नता और निराशा इन्हीं दोनों कसाइनों के पाले पड़ कर पीछे प्राण गंवाना पड़ता है। यदि पाठकों को कुमार की दशा देखनी हो तो सामने दृष्टिपात करें। अटारी पर एक शय्या के पास, जिस पर सूर्यास्त से अब तक उन ने पीठ भी न दी है, माथे पर हाथ रखे नैन मूंदे वह बैठा हुआ है। चेहरे पर पीरी छाई है। शरीर अकालपीड़ित मनुष्य का फ़ोटो बन रहा है। उस की नींद चाव सी रही है।

अब वह अपने मलीन मुख को ऊपर उठाता है। उस पर किञ्चित हर्ष की छटा झलकती है। क्षण मात्र के लिए उस के कपोलों में लाली दौड़ आई है। प्रतीत होता है कि प्रेम ने कुछ नया रङ्ग जमाया है।

यह देखिये, अब दरोवो को ओर उस की नज़र गई, कदाचित यह देखनेके लिये कि भोर भोर होनेमें क्या देर है। चन्द्रमा अभी गगनांगन में बैठा है। उसके मुखड़े पर झीने बादर की चादर पड़ी है। दक्षिणी वायु बहना आरम्भ हुआ है। कोयल पपीहा निकटस्थ वृक्षों पर रह २ कर बोलने लगी हैं; गुलाब की कलियां चटकने लगी हैं। अर्थात् रात बहुत नहीं है परन्तु प्रभात होने में विलम्ब है। आहें भर कर "हाय मालती! हाय मालती!" करता हुआ कुमार उठ खड़ा हुआ और कमरे में इधर उधर घूमने लगा। इतने में किसी के पैरकी आहट मालूम हुई। आवाज़ सुनतेही कुमार चिहुंक उठा। "हैं, इस समय कमरे में कौन आता है?" स्वर से ज्ञात हुआ कि पिता जी हैं।

भद्दराम से वार्तालाप करके अखिलेश कुमार के पास आया है। कुमार के कमरे में पांव धरते ही कुमार को इस दशा में देख अखिलेश चकित हो कहने लगा "क्या तुम अभीतक सोये नहीं? क्या तुम अपनी आयु को सुख से काटने को कुछ भी कांक्षा न रखते हो? देखो पोलू युद्ध में काम आया। अब उस की सारी सम्पत्ति तुम्हारी हुई। अब उस को अपना समझ कर तुम शुभ कार्यों में व्यय करो। वहां जाओ। पोलूगढ़ के दास सब तुम्हारे आज्ञापालक होने को प्रस्तुत हैं। देखो भद्दराम को सम्मति से कार्य्य करना। अपना उपाय लेओ। भद्दराम जिस ढंग का आदमी है मैं नहीं...वह आ रहा है। जल्दी करो। पुत्र मेरा आशीर्वाद लो।"

चतुर्थ परिच्छेद।

प्रभात समीर सेवन करते और सुखद अद्भुत आरण्यदृश्य देखते भद्दराम और जयकुमार इन्द्रगढ़ से पोलूगढ़ की ओर जा रहे हैं। पूर्व आकाश में ऊषा देवी का आगमन होने पर भी यहां गिरिगुहा

तथा इस अरण्यमय में अभीतक शान्ति और अंधकार ही राज्य कर रहे हैं। गत रात्रि दृष्टि हो जाने से चारो ओर कीचड़ पानी देख पड़ता है।

गोदावरी में उत्तरवर्त्ती पवरोले पुल को पार होकर पूर्ववाले पथ से पुराना क़िला होते दोनों आगे बढ़े। दोनों अपनी २ चिन्ता में मग्न हैं। अतएव आपस में वार्त्तालाप नहीं करते हैं। कुमार के हृदय पट में मालती का चित्र है और भट्टराम पीलू को अनन्त सम्पत्ति के ध्यान में हवाई क़िला बना रहा है। दोनों निकटस्थ पथ को और समीपवर्ती पुल को जिस पर अजयगढ़ का उपवन होकर जाना पड़ता है छोड़ कर पुराने पुल से महानदी पार हुए और क़िले के मैदान में आ पहुंचे जो इजयगढ़ के पृष्ट भाग में है। यहां कीर्त्तिसूचक दो बट वृक्षों पर इन लोगों की दृष्टि पड़ी जो कि मिट्टी के टीले पर सुन्दर नदी के पुल के पास खड़े थे। यहां आर्य्यों की वीरता, धर्म्मशीलता, सत्यतादि के भी अनेक स्मारकचिन्ह हैं। आगे बढ़नेपर कुमार की दृष्टि मालती के महल पर पड़ी जिस के कंगूरे हरे २ वनवृक्षों के बीच से आकाश को चूम रहे थे। उन्हें देखतेही उस की आंखें भर आईं।

यहां से कुछ दूर आगे सघन बन में एक पीपर के नीचे एक बड़ा चबुतरा था। लोगों का विश्वास था कि वहां भूत प्रेत रहते थे। यद्यपि और साहसी होने पर भी भट्टराम भूतादि विषयों में विश्वास करता था। यहां आतेही वह प्रथम गया, उसे रोमाञ्च हो आया, और उस के चेहरे का रंग फीका पड़ गया।

भयग्रस्त हो कर वह कहने लगा "हे कुमार! यह स्थान महा भयानक है। दिन में भी लोग इस राह से चलने का साहस नहीं करते। इतना सवेरे इधर आना अच्छा नहीं हुआ। मुझे जान पड़ता है कि कोई हम लोगों का पीछा कर रहा है। मैं ने दो बार प्रत्यक्ष मनुष्य-छाया देखी है। कोई चोर तो नहीं है वा तुम्हारा पिता

हो घातकरना चाहते हैं ? जो हो अब..." आगे कहनाही चाहता था कि उस की दृष्टि किसी दूरस्थ पदार्थ पर जा पड़ी। ज़ोर से यह कहता हुआ "तू कोई भी क्यों न है, ज़रा ठहर जा, अभी तुझे यमालय पठाता हूं" खड्ग खींचकर वह सन से वन से निकल गया।

यह देख कुमार कुछ देर अवाक्य खड़ा रहा। फिर धीरे २ आगे बढ़ा और पीलूगढ़ के निकट पहुंचा। वहां सर्वथा सन्नाटा था। इधर उधर की वस्तुओं पर ध्यान न दे कर "हालमस्त" कुमार गढ़ के उत्तर एक पाकड़ के नीचे, जहां भ्रमर लता ने मिलजुल कर एक कुंज सा बना रखा था, पथश्रम निवारण के लिए बैठ गया। वहां एक समाधिमन्दिर था जिस की भित्ति पर आर्य्यों की विचित्र चित्रकारी का अद्भुत् नमूना चमक रहा था।

वहां कुमार बहुत देर तक भट्टराम की बाट जोहता रहा। निदान भट्टराम कांपता हांफता पसीने से सराबोर कुमार के निकट उपस्थित हुआ और कहने लगा "उस भूत के पीछे कितना कष्ट उठाना पड़ा, जान से हाथ धोकर कितना दुर्गम पहाड़ीपथ भ्रमण करना पड़ा, कितनी जगहों में टकराना पड़ा, कितनी कलनादिनी क्षुद्रप्रवाहिनी नदियां लांघनी पड़ी। भूत बराबर सम्मुख आताही रहा और अंत में यहीं इसी समाधि के समीप अदृश्य हो गया। मैं यहां ठहर नहीं सकता। मैंने सुना है कि अपने अनन्त धन की यहीं गाड़कर पीलू ने अपनी प्यारी पत्नी के भस्म की यह समाधि बनाई है। तुम यहां से भागो। तुम से छिपाना क्या ? वह छाया पीलू ही की है। जिस भेष में वह रणभूमि में गया था अभी मैंने उसी भेष में उसे यहां देखा है। तुम्हारे विलग हो जाने पर वह कृपाण लिए बारम्बार मुझ पर दौड़ता था। देखो ! मैं उसे फिर उस अन्धेरे लताभवन में देख रहा हूं। हाय ! हाय ! यह तो ठीक उसी भेष में है जिस भेष में मैं ने इसे कल रणक्षेत्र में निहत किया है। यह तो इसी ओर आ रहा है। उठो—भागो—भागो——"

भट्टराम की बातें सुनकर कुमार चिहुंक उठा। क्रोध और ग्लानि से जर्जर होकर बोला "हैं! क्या कहा? तूंही पीलू का घातक है? अरे नराधम! तूं ने यह क्या किया?"

भट्टराम अब क्या करे? जो न कहना था समय ने उस के मुख से वही कहलवा दिया। कुछ देर चुप रह कर कहने लगा "मैं ही ने उसे मारा—हां! मैं ही ने, हां [illegible]! मैं नहीं जानता था कि तू इस भेद को नहीं जानता है।"

इतना सुन कुमार अपने को सम्हाल न सका। क्रोध से उस के हृदय में अलौकिक बल का संचार हुआ। भट्टराम की गरदन दबा कर म्यान से कृपाण खींच कहने लगा "भट्टराम! यदि तेरे भूत समूह जिन के हाथ तू ने अपनी आत्मा बेच रक्खी है तेरी सहायता को आवें तौभी मैं आज तेरा सर तेरी गरदन से अलग कर दूंगा। अभी मैं पीलूभट्ट के अनुचरों को पुकारता हूं।—भाइयो! सुनो। दौड़ो, यही पीलूसिंह का हन्ता वर्त्तमान है, इसे यथोचित दण्ड दो, देखो स्वामिहन्ता दुष्ट भागने न पावे।

पहले तो भट्टराम काठ के पुतला सा खड़ा रह गया, पर तुरन्त अपने को सम्हाला और एक झटके से कुमार को भूमि पर पटक दिया। उस के हाथ से उस ने कृपाण छीन लिया, और अपना कुमार के कलेजे में वह घुसाना ही चाहता था कि अचानक एक वीर अन्धकारमय वनवाटिका से बिजली की तरह सामने आ खड़ा हुआ।

यह वीर दोनों की करतूति आदि ही से देख रहा था और समय पर कुमार के सहायार्थ यहां ठहर गया था। इस को देखते ही भट्टराम ने कृपाण फेंक और मार भूमि पर बैठ कर अपना दोनों आंख बन्द कर ली। परन्तु इस की उद्विग्नता पर कुछ ध्यान न देकर आगन्तुक ने क्रोध से कहा "पाखण्डी! आ अपने कुकर्मों का प्रायश्चित्त कर। आ मेरे [illegible] की चोट खा। आज तुझे छोड़ देता हूं। अपने कुकर्मों पर रो। नहीं तो आज तेरा प्राण न बचता।"

भट्टराम पर मानो वज्राघात हुआ। चीत्कार करता हुआ सवेग वन में भागा। ये सब घटना देख कर कुमार चकचका गया। और इस के पूर्व कि वह उस व्यक्ति से कोई प्रश्न करे अश्वों की टापध्वनि कर्ण कुहर में प्रवेश करने लगी जिसे सुनते ही वह वीर यों कहता हुआ वन में चला गया कि "कुमार इस व्यापार को किसी से न कहना। देखो, कदापि अपनी जिह्वा पर न लाना कि पीलू अभी तक जीवित है।"

पीलू को जाते देर न हुई कि अग्निनी अपने पचास सिपाहियों के साथ वहां उपस्थित हो गया और कुमार को इस अवस्था में देख कर बोला "क्यों? तू यहां क्या कर रहा है? तेरी यह दशा क्यों है! भट्टराम कहां गया?"

कुमार—भट्टराम? हां। हां! वह तो भाग गया उस की बातों से प्रगट हुआ कि उस ने पीलू को मारा है। यहां आकर वह मुझे भी घात करने पर आरूढ़ था, पर आप लोगों के घोड़ों की टापध्वनि सुन कर इसी ओर भाग गया है।

इतना सुनते ही अग्निनी कांप उठा, परन्तु अपने को सम्हाल कर बोला—"तुम दोनों पागल हो। पीलू को तो रणभूमि में मौत हुई। जो हो, चाण्डाल को जाने दो। अब अपना काम करो।"

इसी समय एक सुन्दर अश्वारोही युवा अग्निनी के निकट आ पहुंचा। यह अजयगढ़ का अनुचर था। संग्रामक्षेत्र में अपने भुजबल का परिचय दे कर अपने स्वामी के निकट से किसी कार्य्य विशेष के निमित्त इन्द्रगढ़ गया था, पर वहां अग्निनी को न पाकर यहीं आ पहुंचा। अग्निनी की बातें सुनकर इस से न रहा गया। सक्रोध कहने लगा "अवश्य! अवश्य! मैं ने स्वयं अपनी आंखों से पीलूसिंह को युद्ध में गिरते देखा है, निस्सन्देह भट्टराम की गोली से उस की यह गति हुई। परन्तु मैं तो दूसरे दल में था, कुछ कर न सका। अब निश्चय मैं उस का पता लगाऊंगा और जहां कहीं पाऊंगा त्यों

। हो उसे ढूंढ़ निकालूंगा। मेरे संग जिस को चलना हो चले और
अपनी वीरता का परिचय दे।"

इतना सुनते ही दस वीरों ने अश्विनी की आज्ञा की अपेक्षा न
कर के अश्व को पीठ को परित्याग किया और जयकुमार भी उन्हीं
लोगों के संग हो गया। आगे आगे अश्वारोही युवा, और पीछे से
जयकुमार और अपर वीर जिस ओर भद्दराम गया था उसी ओर
वन में घुसे। अश्विनी अपने स्थान पर अवाक्य खड़ा रह गया। उसे
इस बात का भारी भय हो रहा था कि यदि भद्दराम पकड़ा गया
तो वह सारा भेद अवश्य खोल देगा अतएव इस समय वह चिन्ता और
दुःख का खिलौना हो रहा था। क्रमशः उस की व्याकुलता बढ़ती
गई और घबड़ा कर अश्विनी कहने लगा "हाय! पीलू इस समय
कैसा निश्चिन्त है। रणभूमि में उस ने यश लाभ किया और परलोक
में स्वर्ग। मैं कैसा नीच हूं। इस समय यदि मैं अजयगढ़ के कारा-
गार में भी वास करता तो इस से कहीं सुखी रहता। हाय! अब
क्या करूं? इस समय मेरी कैसी दशा हो रही है।"

जो वीर भद्दराम को खोज में गये थे एक एक कर फिर आने
लगे। अन्त में जयकुमार का दर्शन हुआ। पिता को प्रणाम कर
उस ने कहा भद्दराम का कहीं पता न मिला। हम लोग चले आये।
पर राजेन्द्र अभी तक उस के पीछे वन छान रहा है। "अश्विनी
के आनन से हर्ष की छटा छिटकने लगी और सानन्द कहने लगा"
उसे जाने दे। मेरे लिये दोनों की मृत्यु बराबर है। तू अपनी चिन्ता
कर। मैं भलीभांति जानता हूं कि तू मालती पर मर रहा है और वह
तेरे प्रणयको लात मारकर नीच वंशावतंस राजेन्द्रके प्रेममें पागल हो
रही है। यद्यपि वह तुझ से मुंह देखी बातें करती है तथापि वह तुझ
से आन्तरिक घृणा रखती है। पर हां! अब यह बात न रहेगी। गढ़
के तेरे प्रस्थान करने पर रणभूमि से सम्वाद आया कि मेरे पक्ष वालों
का विजय हुआ और अजयगढ़ का सामा जो पराजित हुआ है आज

सन्ध्या पर्यन्त मेरे गढ़ में बंधुआ बनकर आवेगा। और उस के सङ्ग राजेन्द्र भी मेरे कारागार में वास करेगा। सम्भव है कि मालती उस के साथ रहे। इस सुयोग्य को हाथ से न जाने दे। तू शीघ्र के गढ़ में जा और जिस प्रकार हो सके उस को अपनाने की चे कर। यदि वह सम्मत न हुई तो मैं बलात्कार उस का व्याह तुझ कराऊंगा। अब मेरी राह कौन रोकनेवाला है"।

इस समय जयकुमार के चित्त की विचित्र अवस्था हो रही थी अभिमानी को विचारा कुछ उत्तर न दे सका। एक दो अश्रुविन्दु उ के कपोल पर आप से आप टपक पड़े।

पञ्चम परिच्छेद।

मध्यान्ह का समय है। सूर्य्यदेव अपनी प्रखर किरणों से मेदिनी को तप्त कर रहे हैं। पूर्व ओर वन में पारिजाततरुओं और लतादिकों से ढकी हुई एक सुन्दर पहाड़ी है। उस निःशब्द शान्ति रसास्पद विपिन में एक व्यक्ति बैठा हुआ चतुर्दिक की अद्भुत शोभा देख रहा है।

यह व्यक्ति वही भद्रराम है। अपने पीछा करनेवालों से मुक्ति पाकर दुष्ट यहां विश्राम कर रहा है। उस बन कान से इस ने अपने को आज तीन बार राजेन्द्र के आक्रमण से बचाया है। किसी प्रकार इस का पता न लगने से राजेन्द्र ने हताश होकर घर की राह ली है।

वहां ने तो इस का पीछा छोड़ दिया पर इस की दुरात्मा अब इसे खा रही है। रह रह कर पीछे की मूर्त्ति इस की आंखों में झलक जाती है। आज प्रातःकाल का दृश्य भुलाये भी यह नहीं भूलता। चन्द्रमा आकुलता के कारण बिचारा अन्नादिक का भी निर्णय नहीं कर सकता।

यह इसी उधेड़बुन में था कि अचानक सामने एक भाला की चमक दिखाई पड़ी। यह तुरंत खड्ग खींच खड़ा हो गया और चारो ओर देखने लगा, पर कहीं कुछ दीख न पड़ा। लाचार फिर बैठ कर चिन्ता करते २ इस ने राजेन्द्र, अश्विनी, जयकुमार आदि को एक २ कर के मार डालने का और अन्त में बलात्कार मालती का सतीत्व नष्ट करने का निश्चय किया।

ऐसी प्रतिज्ञा करती थी कि मानो पिशाच उस की निष्ठुरता पर दाद देता हुआ उस के सहायतार्थ आ पहुंचा। अचानक पीछे से उस के कानों में यह शब्द पड़ा "वाह भट्टराम! भले मिले। कब का मैं तुम्हें ढूंढता फिरता था"। वृक्ष की ओट से एक व्यक्ति को निकलते देख कर भट्टराम अकचकाकर उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—"कौन? चंडीमल्ल। तुम कहां से? स्पष्ट कहो किस भाव से आये हो? इस समय मेरी अवस्था और हो हो रही है। तुम अभी ज़रा हटे रहो। मैं सुन चुका हूं तुम अजयगढ़ से निकाल दिये गये हो, पर सब बात स्पष्ट सुने बिना मैं तुम पर विश्वास नहीं कर सकता तुम मेरे मित्र हो कर आये हो वा शत्रु?"

चंडी—क्यों यार! इतना सन्देह क्यों? भला मैं कभी तुम से शत्रुता कर सकता हूं। एक शिकार पर मेरी डीठ लगी है, तुम्हारी सहायता बिना मैं उसे नहीं अपना सकता। इसी से कितने दिनों से मैं तुम्हारी टोह लगा रहा था, आज प्रातःकाल अपने जासूसों से सुना कि तुम इसी बन में हो, और राजेन्द्र, जयकुमार आदि तुम्हारे पीछे पड़े हैं। सुयोग पा कर बस यहीं मैं तुम से आ मिला हूं।

भट्ट०—जासूस? सो क्या? तुम आज कल कहां हो? क्या करते हो? यह शिकार कौन है?

चंडी०—सो सब तुमसे कहे देता हूं, पर यहां विशेष विलम्ब करना उचित नहीं। आग का धुन तुम्हारे घर लगा है और राज कर्मचा-

रियों ने आज्ञादी है कि जो तुम्हारा सरकाट कर लेजायगा उस को दस सहस्र मुद्रा इनाम मिलेगी। अब मेरी कहानी सुनो। "अजय गढ़ से निकाल दिये जाने पर मैं ने बहादुरों की एक मंडली इकट्ठी की। पर एक मुखिया बिना सब काम बिगड़ा चाहता है। इस पद पर मैं तुम्हें नियुक्त करना चाहता हूं। यदि तुम में आगे ऐसा कौशल हो, तो अवश्य तुम हम लोगों के सरदार होने योग्य हो। अब तुम अपनी सम्मति दो। अजयगढ़ की गुप्तराह मुझ पर प्रकट है, उस का धनकोष मैं पहचानता हूं। और भी एक शुभ सम्वाद यह है कि जिस धन के लोभ में पड़कर तुम्हारी यह दशा हुई है, वह भी मालती ही को मिला है। तुम छाया के पीछे फिर रहे हो, पीलूगढ़ का कोष आज शून्य हो रहा है। पीलू ने संग्रामक्षेत्र में जाने के पूर्व ही अपना सब धन मालती को सौंप दिया था। मैं ने अपनी आंखों देखा है। क्यों, तुम भड़कते क्यों हो? क्या मैं मिथ्या कहता हूं? कदापि नहीं।

इतना सुनते ही भट्टराम की गति विचित्र सी हो गई। माथा झुकाए नाना प्रकार की चिन्ता में निमग्न हो रहा। थोड़ीदेर के बाद कहने लगा "मित्र मैं अन्तःकरण से धन्यवाद देताहूं। अब बाहर रहकर मैं कुछ काम नहीं कर सकता। फिर क्या करना है, चलो मैं तुम्हारे संग चलता हूं, पर यह तो कहो कि वह तुम्हारी मंडली है कहां? किसी प्रकार आज तो मैं इस बन के बाहर नहीं जा सकता। तुम्हारी सब बातें मैं भलीभांति समझता हूं। हाय! हाय! भला तुम मिथ्या क्यों बोलने लगे।"

चंडी सहर्ष आगे बढ़कर भट्टराम के कंधे पर हाथ धर कहने लगा नहीं कुछ परवाह नहीं। अब सब सिद्ध है, तुम्हें कहीं नहीं जाना होगा न वही नदी के उसपार उसी पहाड़ी के एक खोह में हरे सङ्गी रहते हैं। बस अब विलम्ब न करो, मेरे साथ चलेचलो।

दोनों वहां से प्रस्थान कर नदी पार पहाड़ी की ओर चले।

रास्ते में चंडो ने अपना सबभेद भद्दराम पर प्रकट कर दिया। और लो २ प्रबंध मामलों के सर्वनाश का कर रहा था और कर चुका था सब भी खोलकर कहता गया। इधर भद्दराम ने भी अपनी सारी कहानी कह सुनाई। पोनू के भूत को बात सुनकर चंडो हंसने लगा और बोल उठा यह सब तुम्हारा भ्रम है, अब इस पर ध्यान मत दो।

इन्हीं बातों में दोनों वन लांघ पहाड़ों के निकट पहुंच गये। बेराह ऊंची नोची पथरीली भूमि पर चंडो भद्दराम के सङ्ग कुछ देर तक जाता रहा। अब ऊपर एक झुरमुट के पास पहुंच कर एक चट्टान हटा कर चंडो भीतर घुसा और भद्दराम को भी भीतर ले जाकर पुनः द्वार बन्द कर गुफा में घुस चला। आधी घड़ी तक दोनों अंधकार में टटोलते नीचे गए, तदुपरान्त चंडोने खटकाके सहारे एक बन्द कपाट खोल दिया। अब नीचे उतरने की सोढ़ियां दोख पड़ीं उन को तय कर दोनों एक अत्यन्त रमणीक स्थान में पहुंचे। वह प्राचीन काल का बना हुआ एक गुफामन्दिर था। उस में बहुत सी कोठरियां थीं। एक ओर से झरने का पानी गिर रहा था और चतुर्पार्श्व में बहुतायत से जंगली मेवों के पेड़ भी लगे हुए थे। वहां पहुंच कर भद्दराम ने देखा कि लगभग साठ जवान डटे हुए है और दक्षिण ओर झरने के किनारे एक सुन्दर बालक हाथ में वीणा लिये कुछ गा रहा है।

चंडो को आते देख सब उठ खड़े हुए और उस के मुंह से भद्दराम को अपना सरदार सुनकर सब के सब भद्दराम का यथोचित सत्कार करने लगे।

आगत स्वागत हो जाने पर चंडो ने उस बालक से जिस का नाम भूषण था ऊंचे सुर से गाने को कहा। अब तो भूषण के मीठे स्वर और वीणा की तान से गुफा गूंज उठी। चतुर्दिक् से वाह! वाह की ध्वनि होने लगी।

हमारे पाठकों को आश्चर्य होता होगा कि ऐसे सुन्दर मधुर

सुगन्धमय पुष्पों से भरी भरो कवितालता ऐसे निर्जन स्थान में जहां चारों ओर केवल विषवृटोंही जम रही है एक सुंदर वनपुष्प के सहारे क्यों कर लहरा रही है ?

बात यह है कि भूषण एक ब्राह्मण-सन्तान था। बचपन में चपलमोय एक युवति पर आसक्त हो कर इस ने धर्मपथ परित्याग किया था। लोगों के तिरस्कार और ताड़ना को जब नहीं सह सका तब एक रात घर से निकल पड़ा और बहुत दिनों तक नाना भांति के दुःखों और कष्टों का खेलवना बन कर इधर उधर मारा फिरा। अन्त में चंडो से साक्षात—होने पर आश्रयविहीन होने के कारण उसी के दल में भुक्त हुआ। लिखना बाहुल्य है, कि बिचारा भूषण कुकर्म में अपने संङ्गियों सा चतुर नहीं था। इस की अलौकिक काव्य तथा सङ्गीत शक्ति पर इस के सङ्गी सब मुग्ध हो कर इस पर विशेष स्नेह रखते थे। हां! इधर भेष परिवर्त्तन करने में भी भूषण निपुण हो गया था, अतएव अपने सङ्गियों के कुकर्मों में भी कुछ सहायता किया करता था।

गानवाद शेष होने पर चण्डो और भद्दराम बैठे २ आपस में अनेक परामर्श करते रहे। इसी बीच में एक जवान वहां आ पहुंचा और चण्डो को प्रणाम कर के सामने खड़ा हो गया। चण्डो ने पूछा—"हमलो कह क्या खबर है ?"

हमलो—सब ठोक है। इस समय हम लोगों का शिकार अजय-गढ़ के उपवन में नदी के कूल पर भ्रमण कर रहा है। उस के संग दो और भी हैं। यही अच्छा अवसर है।

चण्डो—अच्छा तू जा, विश्राम कर। मैं सोचताहूं क्या करना ठोक होगा।

हमलो पुनः प्रणाम कर चला गया हमलो चण्डो का एक विश्वासी दूत था। यह मालतो की टोह लेने गया था।

षष्ठ परिच्छेद ।

यहां पर मैं अपने पाठकों को राजेन्द्र का परिचय देना उचित समझता हूं। एक समय पीलूसिंह तथा अजयगढ़ के स्वामी किसी कारण विशेष से महाराष्ट्र देश में बन्दी सा वास करते थे। उस समय वहां के युवराज ने इन लोगों पर भाई सा स्नेह दिखलाया था। वहीं पीलू ने कुछ प्रेम का भी सौदा किया। इन लोगों को उस अवस्था में बहुत दिन नहीं रहना पड़ा था। पर स्वदेशागमन पर भी समय के फेर से नाना प्रकार का कष्ट सहकर पीलू देश छोड़ कर कहीं अन्यत्र चला गया था।

एक दिन हिमन्तऋतु की सन्ध्या में अजयगढ़ के ईश अब मित्रमंडली में बैठे हास्यविलास में सानन्द समय बिता रहे थे, एक महाराष्ट्रीय द्वद्ध अति दुरावस्था में रुधिर से सराबोर कमरे में आ पहुंचा उस को देखते ही सब के सब चकित हो गये। वृद्ध बिचारा अपनी गेठरी दुर्गेश के सामने रख कर बैठ गया और आह भर कर कहने लगा "महाशय! मैं युवराज का भेजा महाराष्ट्र देश से आरहा हूं। इस गेठरी में एक अष्टवर्षीय शिशु लपेटा हुआ है। इस को आप अपने पास रखिये और स्वपुत्र सा इस का लालन पालन कीजिये। आप पर जो युवराज ने एक बार दया दिखाई है और आप का कुसमय में जो बन्धुवत् सत्कार किया है उस का पलटा दीजिये। आप को ईश्वर ने कृतज्ञता प्रकाश करने का यह सुअवसर दिया है, इस को हाथ से न जाने दीजिये। मुझे आज्ञा थी कि पहले पीलू को ढूंढूं और यदि वह न मिले तो इस कठिन कार्य्य का भार आप को दूं। मेरे संग एक स्वर्णपत्र भी था, पर डाकुओं ने उसे छीन लिया और मुझे भी बेतरह घायल कर दिया। आह! अब कष्ट बढ़ता जाता है। हाय! हाय! त्राहि भगवान........."बस वृद्ध की यही चलित कथा थी। अपना कार्य्य सम्पन्न कर के बिचारा सुरपुर को पयान कर गया।

राजेन्द्र वही महाराष्ट्र से आया हुआ शिशु है। किसी पर कुछ विदित नहीं कि किस कुल का यह भूषण है। जब राजेन्द्र अजयगढ़ आया था मालती छःमहिने की थी। दोनों सदा एक संग रहने लगे। खाना, पीना, खेलना, कूदना सब साथही हुआ करता था। क्रमशः दोनों बड़े हुए। वनवाटिका की सैर, विद्योपार्जन, गान, वाद्य सब साथ ही होता रहा। बिना जाने बिना चेष्टा किये परस्पर स्नेह अंकुरित हो कर सदा प्रेम दृढ़ होता गया। दोनों एक दूसरे को प्राण से भी अधिक चाहने लगे। समय जो आप करता है उसे कौन रोक सकता है। इधर जयकुमार मालती पर आसक्त हुआ। वह एक दुर्गपति का लड़का था। सभी कहते थे कि मालती जयकुमार को वरेगी। राजेन्द्र उसका आश्रित था। अतएव कौन यह सोचने का साहस करता कि दोनों में प्रेम है। कोई कहे चाहे न कहे पर प्रेम क्या गुप्त रह सकता है ? समय पाकर सभों ने जाना। दुर्गेश ने भी जान लिया और अपनी एक मात्र स्नेहमयी पुत्री के सुखार्थ इस यत्न में लगा कि राजेन्द्र के वंश और भूतपूर्व इतिहास का पता लगावें। किन्तु इसी समय लड़ाई छिड़ गई और वह स्वयं संग्राम की तयारी में प्रवृत्त हुआ।

आज अजयगढ़ के पृष्ठ-भाग-वर्ती एक सुखद कुंज में मालती, राजेन्द्र और मालती के बुलाये जयकुमार बैठे हैं। बहुत देर तक इधर उधर की बातें होती रहीं। अन्त में मालती ने कहा "कुमार तुम मेरे बैरी के पुत्र ही सही पर तुम से मुझे तनिक भी द्वेष नहीं है। इसी लिये मैं ने आज तुम्हें एक गुप्त व्यापार पर तुम्हारी सम्मति लेने को बुलाया है मेरी बुरी दशा तो तुम से कुछ छिपी नहीं है। तुम जानते हो ही कि आज से मेरा पिता तुम्हारे कारागार में वास करेंगे। मेरी क्या गति होगी इस को मुझे चिन्ता नहीं। पर सुनो! मेरे पास एक थाती है उस की रक्षा का भार मेरे सिर पर है; अपने दुर्ग में अकेली रह कर मैं उस की रक्षा कैसे कर सकती हूं ?"

इतना सुन कर कुमार बहुत दुःखी हुआ। यह अपने पिता के दयाशून्य हृदय को जानता था। पर जो हो, इस की यह इच्छा न थी कि किसी भांति इस के कारण मालती को कष्ट हो। अपना प्राण देकर

में यह मालती को सन्तुष्ट रखना चाहता था। अतएव एकांतर भाव से कह कहा "मेरे किये यदि तुम्हारा कुछ उपकार हो तो मैं करने पर प्रस्तुत हूं।"

मालती बोली "तब ध्यान देकर मेरी बातें सुनो। देखो, अपने पिता पर इस भेद को प्रकट नहीं करना। एक दिन की बात सुनो। मैं एक बार अकेली पोलूगढ़ निकटवर्त्ती उपवन में भ्रमण कर रही थी और आपही आप कुछ गा रही थी। बसन्तऋतु थी। संध्या हो चली थी। चारों ओर हरे भरे बिटपों पर पक्षियां गान कर रहे थे। भांति भांति के पुष्प विकसित हो रहे थे। आकाश की शोभा अद्भुत थी प्रकृति की अठखेलियां देखते बन आती थी। उसी समय अचानक पोलू ने मुझे एक लता कुंज से देख लिया। मुझ पर उस का स्नेह बढ़ा। तब से वह पुत्री इव मुझे मानने लगा। दिन प्रति उस का प्रेम मुझ पर बढ़ताही गया। मैं ने कई बार उसे स्पष्ट कहते सुना है कि अब वह मुझ से बढ़ कर और किसी को नहीं मानता और यह बात ठीक भी ठहरी क्योंकि उस ने इस का स्वतःप्रमाण दिया।

"जिस समय की बात मैं कह रही हूं उस समय वह बहुत दुःखी और खिन्न रहा करता था। उसी समय देश में चारों ओर हलचल मच गया। युद्ध में जाने के एक दिन पहले अर्धनिशा में पिलूसिंह के कई दास रत्नतोड़ा अमूल्य रत्नादि और एक पत्र लिए हुए मेरे गढ़ में आये। पिता और राजेन्द्र रणक्षेत्र को पहले ही प्रस्थान कर चुके थे। दासों ने मुझे जगाया। पोलूसिंह के अनुचर तोड़ों को मेरे कोष में रख कर और मुझे पत्र दे कर तुरंत चले गये। मेरी यही थाती है और इसी के रक्षार्थ मैं व्यस्त हो रही हूं। तुम्हारे प्रबोधार्थ मैं उस पत्र को भी पढ़ देती हूं।"

मनुष्य अपनी अवस्था कदापि नहीं जानता। जो पीछे की चीजों को नहीं देख सकता वह भविष्य का यत्न क्या कर सकता है।

जिस समय ये दोनों बैठ कर आपस में यों परामर्श कर रहे थे इन के पीछे झाड़ी की ओट में भद्रराम और अपछी बैठे हुए इन के मारने

की चेष्टा कर रहे थे। चकों ने इन पर दो बार निशाना किया प
दोनों खाली गये। अब भइराम तीर कमान लेकर बैठा है।

इधर मालती पीलूसिंह का पत्र पढ़ने लगी—

"पुत्रीतुल्या ललना-कुल-भूषण श्रीमती मालती सुन्दरी। शुभ चाशी
र्वाद विज्ञापन विशेष। दिनों से मैं सोच रहा था कि तुझे अपनी हृदय
विदारक कहानी कह सुनाऊं। पर साहस नहीं होता था। भय होत
था कि तू कहीं मुझ से घृणा न करने लगे। जो हो, अब तो मैं
संग्रामक्षेत्र में चला। अतएव अपने मन की सब बातें आज तुझे कहे
देता हूं। आगे तेरे पिता के संग मेरी बड़ी मित्रता थी। सामान्य विपद में
पड़ कर हम लोग बहुत दिनों तक एक संग महाराष्ट्र देश में रहे। वहीं
एक रमणी पर मैं आसक्त हुआ। गुप्त रीति से हम दोनों का व्याह
हुआ। तदुपरान्त उस को संग लेकर मैं अपने दुर्ग में आया और सानन्द
यहां अपना समय बिताने लगा। यहां सब से अधिक प्रेम भाव मुझे
अपने एक निकटस्थ कुटुम्ब से था। मेरे सब भेदों को वह जानता था।
हम लोगों में गाढ़ी प्रीति हो गई थी। मैं उस पर बहुत विश्वास रखता
था। मैं उस का नाम नहीं ले सकता। उस का स्मरण आते ही मेरे
हृदय में शोकानल धधकने लगता है। उस ने जो किया अच्छा किया।
अभाग उस का पलटा अब भगवान से पावेगा। पर मैं उस का नाम
लेकर उस के कलंक का विज्ञापन न दूंगा—

"एक दिन वसन्तऋतु की सुखद सन्ध्या में हम दोनों साथ बैठे
सानन्द वार्तालाप कर रहे थे। हाय! मुझे क्या मालूम था कि उस के
गुलाबरूपी आनन में नागिन बैठी हुई है। थोड़ी देर इधर उधर ताक
झांककर दुष्ट ने तिरस्कारसूचकहंसी हंसी। कारण पूछने पर होठ पर
उंगली धरे बहुत देर तक चुप बैठा रहा। बहुत पूछने पर उस ने माधवी-
कुंज की ओर दिखा दिया। नीच सब भेद जानता था, पर असल बात को
न कह कर चुप रह गया। हाय! यह क्या? वहां तो मेरी प्यारी एक
युवा के संग सानन्द बातें कर रही है। क्रोधान्ध, बिना सोचे विचारे, मैं ने
बाण मारा, दोनों घायल होकर गिर गये। विस्मित, वहां जाकर देखता
हूं कि सर्वनाश हो गया है। हाय! हाय! मेरी सती साध्वी स्त्री ने

अपने कनिष्ट भ्राता के संग बातें कर रही थी। दोनों मर गये। हाय! दोनों मर गये। कृपाण लिये मैं नराधम की ओर दौड़ा पड़ क्या कहूं, उस को वहां नहीं पाया। इधर उधर अनुसंधान करने पर भी उस की टोह न मिली। इस दुर्घटना से मैं बहुत दुःखी हुआ। उसी दिन से मानो मेरा सुख का सूर्य्य अस्त हो गया। इस शोक के बोझ को मैं नहीं उठा सका हृदय विदीर्ण हो गया। यहां तक कि बहुत दिनों तक मैं उन्माद-ग्रस्त इधर उधर मारा फिरा। वर्षों बाद जब मुझे सुधि हुई, तो अपने लोगों से मैं ने सुना कि मेरे जीवन का एक मात्र सहारा मेरा प्यारा पुत्र एक दिन अपनी धाई के संग उपवन में घूम रहा था, बस वहीं से अन्तर्धान हो गया। क्या कहूं यह भी उसी नीच का काम था। बस और कहीं सहा गया। सब छोड़ छाड़ कर मैं देशान्तर चला गया।

"एक दिन एक पर्वत के निकट एक चट्टान पर मैं सोया हुआ था। मुझे स्पष्ट ज्ञात हुआ मानों मेरी प्यारी अपने मधुर स्वर से कह रही है तुम यहां निश्चिन्त पड़े हो और मेरा पुत्र गृहहीन दीनावस्था में अपरिचित सा इधर उधर मारा फिरता है। आज उस को कोई अपना कह कर सत्कार करनेवाला नहीं है। जाव, तुम जाव, उस को ढूंढ़ निकालो।' प्रभात होते ही मैं घर फिर आया। उस दुष्ट को भी देखा। हां, अब भी देख रहा हूं। परन्तु अब उस को मैं ने क्षमा की। अब उस से बारम्बार यही कहता हूं कि धिक् चाण्डाल! मेरे पुत्र को मुझे दे दे, किन्तु क्या कहूं दुष्ट मेरी एक भी नहीं सुनता।"

"एक बात और है। तुम जानती हो मैं तुम्हें इतना क्यों मानता हूं? तुम्हें देख मुझे अपनी प्यारी की सुधि आ जाती है। ठीक तेरे सा उस का रूप और गुण दोनों था। परन्तु जो हो, अब तुम सुनो। मेरी इस अनन्त सम्पत्ति को तुम लो और यदि संग्रामक्षेत्र में मुझे वीरगति लाभ हो तो तीन वर्ष तक मेरे पुत्र की अपेक्षा करना। यदि वह आ मिले तो इस धन का तीन अंश उसे देना और एक आप लेना; और यदि वह न मिले तो सब सम्पति अपनी समझना। बेटी! देखना इस धन को दुष्कार्य्य में लगाना।"

यहां आ पहुंचा। तीनों चकित हो खड़े हो गये। उस के चेहरे पर रुमाल पड़ा हुआ था, इसी से किसी ने उसे नहीं पहचाना। आते ही अश्वारोही ने कहा "भागो, तुम लोग शीघ्र भागो। यह स्थान निरापद नहीं है। तुम लोगों के पीछे दो डांकू पड़े हुए हैं सावधान रहो।"

इन के उत्तर की अपेक्षा न कर अश्वारोही चलता हुआ। राजेन्द्र साहस कर असल बात जानने के लिए इधर उधर घूमने लगा। कुछ में उसे एक तमंचा मिला। अश्वारोही की टाप-ध्वनि सुन अहराम इसे वहीं फेंक कर भाग गया था। तीन बार राजेन्द्र पर लक्ष किया था। पर तीनों बार मालती उस की ओर ऐसी झुकी कि वह तमंचा छोड़ नहीं सका क्योंकि उस को यह इच्छा न थी कि वह मालती का रुधिर पात करे।

यहां से प्रस्थान करने के पूर्व आपस में यही ठीक हुआ कि आज अर्द्धनिशा में कुमार अपने सिपाहियों को लेकर अजयगढ़ में आवेगा और पीलू का धन ले जाकर अपने गुप्तभण्डार में अत्यन्त यत्न से रख देगा। कुमार ने यह भी प्रतिज्ञा की कि यह भेद आखिनी पर नहीं प्रकट होगा।

सप्तम परिच्छेद।

संध्या हो चली है। गिरिशृङ्गों पर एवं गढ़ के कंगूरों और तालवृक्षों के शिरोभाग पर वृद्धरवि की अन्तिम किरणें झिलमिला रही हैं। भास्कर भगवान अस्ताचल को चल बसे हैं। अब इन में पूर्व सा तेज नहीं। पश्चिम दिशा रक्तवर्ण हो रही है। मेघमाला में सूर्य का प्रतिविम्ब अद्भुत शोभा दे रहा है। पक्षीगण कलरव करते अपने २ बसेरों को जा रहे हैं। कहीं भौंरे रसिकनायक के सदृश पूर्णविकसित अर्धविकसित फूलों तथा मुकुलित कलियों का मुख चूम २ विदा हो रहे हैं; रंग बिरंग की तितिलियां भी सखियों के समान फूलों को अंक भर २ कर बिदा हो रही हैं; शीतल वायु के प्रसङ्ग से तरुपल्लव से झिर २ ध्वनि हो रही हैं; हरे २ वृक्ष, रंग बिरंग के बादल, और डूबतेहुए सूर्य के प्रतिविम्ब अथाह नदी के गम्भीर हृदय पर एक मनोहर दृश्य देखा रहे हैं। अद्भुत

वहां या पहुंचा। तीनों चकित हो खड़े हो गये। उस के चेहरे रुमाल पड़ा हुआ था, इसी से किसी ने उसे नहीं पहचाना। पाते अश्वारोही ने कहा " भागो, तुम लोग शीघ्र भागो। यह स्थान निर नहीं है। तुम लोगों के पीछे दो डांकू पड़े हुए हैं सावधान रहो।'

इन के उत्तर की अपेक्षा न कर अश्वारोही चलता हुआ। साहस कर असल बात जानने के लिए इधर उधर घूमने लग में उसे एक तमंचा मिला। अश्वारोही की टाप-ध्वनि सुन भ वहीं फेंक कर भाग गया था। तीन बार राजेन्द्र पर लक्ष्य पर तीनों बार मालती उस की ओर ऐसी झुकी कि वह नहीं सका क्योंकि उस की यह इच्छा न थी कि वह मालत पात करे।

यहां से प्रस्थान करने के पूर्व आपस में यही ठीक अर्द्धनिशा में कुमार अपने सिपाहियों को लेकर अजय ओर पोलू का धन ले जाकर अपने गुप्तभण्डार में अ देगा। कुमार ने यह भी प्रतिज्ञा की कि यह भेद प्रकट होगा।

जयकुमार बहुत दुःखी हुआ। मानो उस पर बिजुली टूट पड़ी। पहले तो वह असमंजस में पड़ा। परन्तु निराशता ने उसे सा[illegible] दिखाया और अपने को समझा कर कहने लगा "तुम व्यर्थ [illegible] दोषी ठहराती हो। तुम को कुछ भय नहीं है। मेरे सिपाही [illegible] आही पहुंचे। तुम साहस करो, यहीं रहो। अब मैं दस्युओं से भि[illegible] कर अपना प्राण देता हूं। अन्तिम समय मैं ने तुम्हें देख [illegible] यही बहुत है।" ऐसा कहता हुआ कुमार गढ़ की ओर बढ़ा।

एक मुहूर्त में कुमार वहां पहुंचगया जहां अजयगढ़ के सिपा[illegible] दस्युओं से घनघोर युद्ध कर रहे थे और जहां राजेन्द्र निज बाहुब[illegible] का अपूर्व परिचय दे रहा था। तौभी दस्युगण जयलाभ ही करन[illegible] चाहते थे कि इतने में जयकुमार के पचास वीर आ पहुंचे। बस [illegible] क्या था। बात की बात में दस्युओं का दल नष्ट हो गया। सब [illegible] सब मारे गए। केवल चण्डी और भूपण जीवित पकड़े गए। परन्तु भद्दराम सब के देखते २ निकल भागा। राजेन्द्र ने अपने सैनिकों को उस का पीछा करने से निषेध किया क्योंकि इधर कुमार बहुत घायल हो गया था और उधर मालती भी कुंज में अकेली पड़ी थी।

राजेन्द्र और कुमारादि के दुर्ग से बाहर होने के पूर्वही अचानक आग धधक उठी। सब अचम्भे में आ गए। देखते २ आग बढ़ी, कोठी सब जलने लगीं, छत टूट २ कर घोरनाद करती गिरने लगी। दुःख पर दुःख। दस्युओं के पंजे से बच कर अब आग में स्वाहा होने की बारी आई। लोग आग बुझाने की चेष्टा ही में थे कि मेगज़ीन तक आग पहुंच गई। अब क्या था, बात की बात में दुर्ग प्रलयकाल के मेघ सा गर्जन करता हुआ उड़ गया। पर सौभाग्यवश उस के पूर्व ही सब लोग बाहर हो गए थे। अब सबों ने चलना ही उत्तम समझा। जाते समय मालती महा विलाप करने लगी। यह दुःख उस के लिए असह्य था। वह पैतृक दुर्ग जिस का यश देशान्तर में व्याप रहा था उस को आंखों के सामने भस्म हो गया। उस के पिता

करने से आज ही मनवांचित अवस्था को पहुंच जायगा।" चण्डी ने उस के परामर्श को मानना अङ्गीकार किया। तदुपरान्त् में धीरे २ कुछ बातें होती रहीं। मैं एक कोने में बैठा हुआ कुछ सुन न सका। इसी बीच में एक दास ने आकर अखिनी के मैं एक पत्र दिया और कहा कि "महाराज एक नवाबपोश रोही यह पत्र दे गया है।" अखिनी तत्पश्चात् पत्र खोल कर लगा। फिर न जाने क्या सोचकर चंडी के हाथ में वह पत्र दे कहने लगा। "हाय! भारी आपत्ति। यह अनहोनी क्योंकर हु सभी कहते हैं कि पीलू मर गया फिर वह कहां से आया? हो, पर नराधम मुझ पर मिथ्या दोषारोपण क्यों करता है। भ मैं क्या जानूं कि उस का लड़का कहां है? मैं तो सदा उस मित्र भाव रखता आया। मुझे क्यों व्यर्थ सता रहा है? मैं उस पुनर्जीवित होने का सम्वाद सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। पर हां क्या करूं? मैं शपथ खाकर सच्चे मन से कहता हूं कि यदि जानता कि उस का लड़का कहां है तो आज ही उस को उस के गोद में डाल देता। तुम्ही लोग कहो उस का लड़का अब का अन हित हुआ है। आज भला वह कहां है इस का पता कौन सकता है?" अखिनी बहुत देर तक इसी भांति प्रलाप करता रहा मैं दमसाधे पड़ा था और उस के दासवर्ग आवकार खड़े थे। अन में न जाने क्या सोच विचार कर चण्डी बोल उठा "महाराज! ढिठाई क्षमा हो, पीलूसिंह के पुत्र के लिए आप इतना व्यग्र क्यों हो रहे हैं? वह विचारा तो सर्वथा आपही के अधिकार में है। यदि आप चाहें तो आज ही उन का लड़का अपने पिता के पास आ सकता है। क्या आप ऐसा क्या देख रहे हैं..? क्या मैं झूठ कहता हूं? लीजिये, श्रीयुत राजेन्द्रसिंह श्रीमान् पीलूसिंह के सुपुत्र हैं। मैं ठीक जानता हूं। मेरे पास इस का प्रमाण है। आप सब खोल कर कह देता हूं। जब पीलूसिंह पागल हो गये तो राजेन्द्र को

मु को धाई समेत उस का नाना महाराष्ट्र देश में ले गया और
ब दुर्दिन ने उस को आ घेरा तो उस ने एक स्वर्णपत्र पर राजेन्द्र
ो अपनी लिख कर एक छिकरी समेत एक इड दास के द्वारा उसे
जयगढ़ के देश के निकट भेज दिया। रास्ते में डांका पड़ा।
छकरी और स्वर्णपत्र छोन लिये गये। वे आज कहां हैं सो मैं
ानता हूं। पर इस भेद को नहीं जानता था। आज चार दीन
ए कि मैं ने इस भेद को राजेन्द्र और मान्वती के मुख से जब वे
उपवन में बैठे बातें कर रहे थे सुना। कहिये तो अभी उस स्वर्णपत्र
को भी लादूं। " यह बात सुन पद्मिनी सक्रोध बोला उठा " दुष्ट!
तू भूठ बकता है। अभी तुझे सूली दूंगा। " पर चंडी ने निःशंक
उत्तर दिया " कदापि नहीं, अभी जाकर मैं उसे ला दे सकता
हूं। " इस पर अनेक बातें हुईं। अन्त में यही निश्चय हुआ कि मैं
जाकर उस पत्र को लाऊं। चंडी ने पद्मिनी को कहा कि मैं उस
का लड़का हूं। अनेक शपथ देकर चंडी ने मुझे भेजा है। और
यह वही पत्र है।

भट्टराम मारे आनन्द के उछल पड़ा और कहने लगा "आज मेरे
हृदय से एक बड़ा बोझ टल गया। जो हो, अब मैं स्वामोहत्ता न हूं
पर भूषण कह तो अब तू क्या करेगा?"

भूषण—क्यों? मैं ने तो ठीक कर लिया है कि इस स्वर्णपत्र को
पोलूसिंह को समर्पण करूंगा, और उस से यथोचित उपहार लूंगा।

भट्टराम—वाह! वाह! अच्छो कहो। ऐसाही कर। पर मेरा
एक और परामर्श मान। तू यह नीच वृत्ति छोड़ दे। अभी तू अल्प
वयस्क है, अपनेको सुधार सकता है। पौलू तेरा बहुत सत्कार करेगा।
उसी के यहां चाकरी करना और कहना कि आज प्रातःकाल तक
राजेन्द्र को रक्षा भट्टराम करेगा और अन्त समय तेरो हित अपना
प्राण देगा। पाप के बोझ से अब मैं दबा जाता हूं! पौलू सिंह से

लिए अपना रुधिरपात कर प्रायश्चित करूंगा। उन से मेरे अपराधों को क्षमा का प्रार्थी होना। बेटा! उन्हें तू पोलूगढ़ के उपवन में समाधि के पास पावेगा। और ले, आज यह अन्तिम चिह्न तुझे दिये जाता हूं। इसे मेरा स्मारकचिह्न समझना और इसे अपने पास रखकर मुझे सदा स्मरण रखना। क्यों? तू रो क्यों रहा है? मुझ पर क्या तुझे दया आती है? नहीं २, ऐसा न कर। अब मैं संसार में ठहरने का नहीं। जा, तू शीघ्र जा। मुझे अपने कुकर्मों पर यहां बैठ कर रोने दे। अब रात अधिक नहीं है। यथासम्भव शीघ्र अपना कार्य्य सम्पन्न कर।

ऐसा कह भट्टराम ने एक बहुमूल्य सिकरी अपने गले से उतार कर भूपण को दी। भूपण उसे ले कर भट्टराम का पैर छू प्रणाम कर के वहां से चल गया। भट्टराम वहीं बैठा बैठा कुछ विचारते रह गया।

—:०:—

नवम परिच्छेद ।

सुबह की सफेदी आकाश में छा गई है। वसुमति सचेत हो उठी है। प्रकृतिश्याम से गोरी हुई है। पक्षीगण चारो ओर से चहचहाने लगे हैं। सुखद प्रातसमीर बहने लगा है। फूल सब खिलउठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो चराचर पुनर्जीवित हुए हैं। चोर लम्पट गिरि-कानन में जा छिपे हैं। महलों में कामकाज का चलचल होनेलगा है। लोग इधर उधर आने जाने लगे हैं। पथिकोंने भी अपनी राह ली है।

इन्द्रगढ़ में पद्मिनी शय्या परित्याग कर बाहर आया है। भूपण की राह ताकते उसे सारी रात नींद नहीं आई। उठते ही उस ने अपने एक दास को चंडो के पास भेज कर भूपण के लौट आने का हाल पुछवाया और ज्ञात हुआ कि वह अभी तक नहीं लौटा है। एक वृद्ध दास उसके पास खड़ा २ यह व्यापार देख रहा था। उस से

नहीं रहा गया, बोल उठा "महाराज क्षमा कीजिए; इस छोकड़े से चंडी को कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह एक ब्राह्मणबालक माधोपुर का रहने वाला है।" इस पर पद्मिनी चिंहुक कर कहने लगा "हैं! क्या कहा? ब्राह्मण? तब तो भारी भूल हुई। जान पड़ता है कि यह छोकड़ा पीलू से जा मिला। हां! चण्डाल चंडी ने तो मुझे भारी धोखा दिया। जो हो, पर अब अभागी को न छोड़ूंगा। जा, अभी उसे सूली दे। अभी मैं सब को यथोचित दंड देता हूं। अरे भीलवा! कुमार को दिवानखाने में ला और घसीटा दारोगा से कह दे कि राजेन्द्र और मालती को उस के पिता समेत वहीं लेता आवे।

आधी घड़ी में चारो ओर हलचल मच गया। पद्मिनी अपने मुसाहबों के साथ दरबार करने बैठा। मालती, उस का पिता और राजेन्द्र सामने लाए गए। एक डोली पर जयकुमार भी आया। थोड़ा से उस का रंग विरंग है। वैद्यराज कहते हैं कि उस का रोग बहुत बढ़ गया है।

इधर उधर देखकर पद्मिनी ने सदर्प कहा "अब समय नष्ट करना व्यर्थ है। अजयगढ़ के ईश कहें कि वह मालती का व्याह कुमार के साथ करेंगे या नहीं।"

यह सुनकर मालती सहम गई और अपने पिता और कुमार की ओर देखकर अश्रुपूर्ण नेत्र से उन्हीं निहारती हुई अवाक हो गयी। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। पर दुर्गेश ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया "इस में मैं कुछ नहीं कह सकता, अपने हाथ से मैं अपनी दुहिता को रसातल नहीं भेज सकता। आप उसी से पूछिये। उस की जो इच्छा हो करे, मैं कुछ नहीं बोल सकता।"

यह सुनते ही पद्मिनी को क्रोध चढ़ आया। पर अपने को सम्हाल कर मालती की ओर देखकर कहने लगा "मालती! देख ध्यान कर लो। आज अब कुछ तुझ पर निर्भर करता है। मैं चाहता हूं। [illegible] को अपनाने से तू मेरी [illegible] होगी। नहीं तो, [illegible]

घोर साथ ही साथ राजेन्द्रका भी शिर काट लिया जायगा। अ
अब, मैं अधिक विलम्ब नहीं कर सकता। "

अपना अश्रुपूर्ण नेत्र कुमार की ओर घुमाकर आर्त्त स्वर
मालती कहने लगी—"कुमार तुम ही न्याय करो। आज इन
बातों को तुम ही निर्णय कर दो। सबों की जान आज तुम्हारे
हाथ में है। पर हाय! मैं नहीं जानती थी कि अन्त में तुम्हारे
हाथ से मैं ऐसे चक्र में पड़ूंगी। अब लो, जो चाहो सो करो। मैं
परवश होही चुकी हूं।"

कुमार मालती के समीप ही एक मसनद के सहारे लेटा हुआ
था। मालती के व्यंग पर उठ बैठा और अपने पिता की ओर
देखकर कहने लगा "हाय पिता! तुम ने यह क्या किया? मैं बार
म्बार तुम से कह रहा था कि अब इन सब बखेड़ों को तय करो
संसार में अब मैं रहने का नहीं। मेरे लिये दूसरों को क्यों सताते हो
जो मेरे प्रणयपाश में न बंध सकी उसे नीच चतुराई के फन्दे में फंसाकर
क्यों यन्त्रणा दे रहे हो? परन्तु हाय! तुम ने मेरी एक भी न मानी
जिस से मैं डरता था वही माथे आ पड़ा—क्या करूं? हाय! हाय
मालती! मालती!! मालती!!! तू मुझे क्षमा कर। स्वप्न में भी मन में
था कि मैं अपने पिता की कुमन्त्रणा का सहायक हूं। नहीं उस से मेरा
कोई सम्बन्ध नहीं है। नहीं, नहीं, कदापि नहीं। हाय हाय
क्या संसार में इसी हेतु मेरी सृष्टि हुई थी? क्या मेरा सर्वनाशही करने
के लिये मेरी हृदयवाटिका में प्रणय बीज जमा था? प्रेमरवि क्या मुझे
दग्ध ही करने को मेरे हृदयाकाश में उदय हुआ था? जो हो, मैं अब
यह यन्त्रणा सह नहीं सकता। आज मेरे जीवननाटक का अन्तिम दृश्य
है। आज मेरी संसारयात्रा समाप्त हुई। व्योम! मेदिनी! दिगपाल
देव देवी! सभी आंखें फाड़ फाड़ कर देख लो। पृथ्वी में किसी को ऐसा
प्रेम का पलटा नहीं मिला था जैसा आज मुझ को मिला। सभी सुखी
रहें। सब निश्चिन्त हो जायं। हे! प्रेमदेव! मेरा प्राण बलि लो

मालती ! मालती !! एक बार तुझे प्यारी कहूंगा—प्यारी !—प्राणेश्वरी लो—चला—हाय—माल् म् म्..........।

हाय ! यह क्या हुआ ? कुमार को चांखिटंग गई। चेहरा कपास सा हो गया। प्राणवायु निकल गया। चण मात्र में चारों ओर सन्नाटा छा गया ! घर नितान्त शून्य और शोकपूर्ण बोध होने लगा। सभी के मुख पर विषाद का चिन्ह, सभी शोकाकुल। पाखिनी पर तो मानो वज्रपात हुआ। उस का एकलौता लड़का मर गया। उस का सब खेल उल गया। निराशा उस का मुंह ताकने लगी। परन्तु वह शोक और क्रो से पागल होकर बिना कुछ सोचे विचारे कड़क कर बोल उठा, "अ क्या ? अब क्यों देर हो रही है ? सब का सिर काटलो, राजेन्द्र को व करो, मालती को सूली दो ! दुर्गेश की खाल खींच लो—चाण्डाल तु सब खड़े क्यों हो ? मारो ! मारो ! सब को मारो !

इस के पूर्व ही कि पखिनी के दास उस की आज्ञापालन कर स एक अश्वारोही सवेग वहां आ पहुंचा। उस ने आतेही एक तमंचे व वार किया, निशाना अचूक था। गोली लगते ही पखिनी गिर गया देखते देखते दूसरा फेर हुआ—हाय ! पखिनी मर गया। अश्वारो ने अपने घोड़े की बाग मोड़ी, पर दैवात् घोडा चूक गया। सवार गि पड़ा। अब क्या था ? चारो ओर से लोग उस पर टूट पड़े। देखते देख सहस्रों अस्त्राघातें उस पर होने लगीं। बहुत फुर्ती करने पर भी वै अपने को बचा न सका। बिचारा वहीं पञ्चतत्व को प्राप्त हुआ। देखने जान पड़ा कि वह भद्दराम है। मरते समय उस ने अपने स्वामी व सहायता की। अब सब के सब किंकर्तव्य विमूढ़ खड़े रहे। इसी बी में अनेक अश्वों की टाप-ध्वनि सुनाई देने लगी, सब चकित हो रहे देखते २ पोलू अश्वारूढ़ वहां आ पहुंचा। उस के सङ्ग बहुमूल्य वस भूषणों से भूषित भूपय भी था। इधर उधर बिना देखे सुने पोलू राजेन्द्र को हृदय से लगा लिया और "बेटा बेटा" कह कर बारम्बा उस का मुंह चूमने लगा।

परिशिष्ट ।

कुछ दिन पीछे शुभघड़ी शुभ लग्न में राजेन्द्र और मालती का व्याह हुआ। पीलूगढ़ में आनन्द उमड़ चला। चारों ओर प्रमोद उल्लास होने लगा। पीलूसिंह का दिन फिरा। अजयगढ़ फिर से बसा। अग्निने भद्दराम दोनों ने अपने कुकर्म का यथोचित फल पाया। अच्छो कि सुखी हुई। भूषण सानन्द पीलूगढ़ में राजेन्द्र के संग अपना कालाक्षेप करने लगा। परन्तु जयकुमार की मृत्यु से सभी दुःखी रहते थे। राजेन्द्र के अनुरोध से भूषण ने जयकुमार की एक छन्दबद्ध जीवनी लिखी जिस के अधार पर यह उपन्यास लिखा गया।